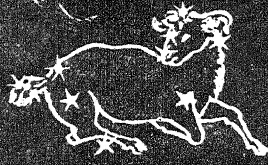


विश्व की कहानी

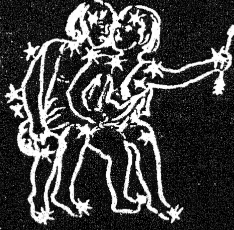
मेष



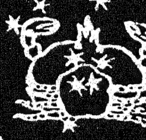
वृष



मिथुन



कर्क



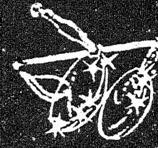
सिंह



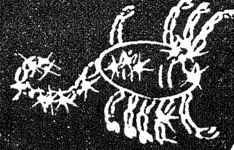
कन्या



तुला



वृश्चिक



धनु



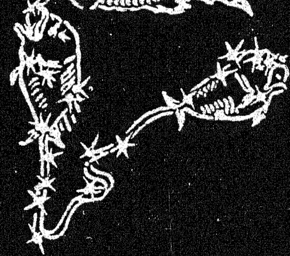
मकर



कुंभ



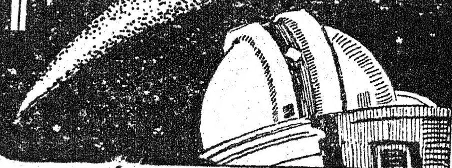
मीन



पाश्चात्य पद्धति के अनुसार बारह राशिचिह्न और उनको सूचित करनेवाले तारा-समूह
भारतीय राशियों की संख्या और क्रम भी बिल्कुल यही है, तथा उनके प्रतीक भी इनसे मिलते-जुलते ही हैं।
हाँ, यहाँ की तरह पाश्चात्य राशिमंडल बराबर-बराबर राशियों में विभाजित नहीं माना जाता।

आकाश की बातें





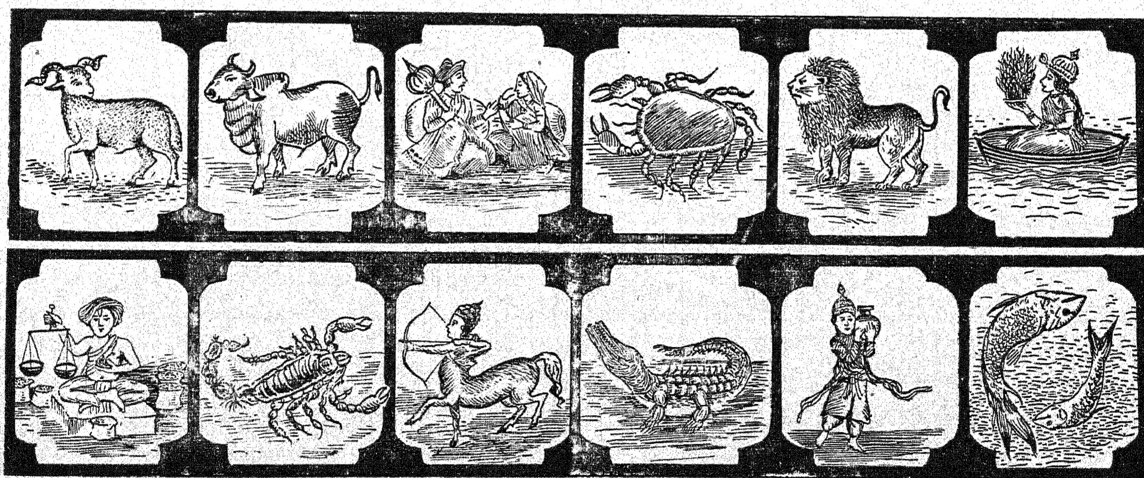
सौर जगत् से परे—नक्षत्रों की दुनिया या तारा-समूह

इस स्तंभ के अंतर्गत पिछले प्रकरणों में अब तक हमने सूर्य और सौर परिवार के अन्य सदस्यों का ही परिचय पाया है, किन्तु आकाश में तो प्रत्येक स्वच्छ रात्रि में हम अनगिनत ज्योतिष्पिण्ड चमचमाते हुए देखते हैं! तो वे सब क्या हैं? आपको यह जानकर अचरज होगा कि हमारा सूर्य और उसका परिवार तो विशद ब्रह्माण्ड का एक अत्यन्त लघु भाग है—उससे परे उस जैसे न जाने कितने और सूर्य अंतरिक्ष में चक्कर काट रहे हैं, जो दूर से हमें तारों के रूप में टिमटिमाते हुए दिखाई पड़ते हैं। अब हमें इन्हीं का अध्ययन करना है।

किस हिन्दू ने मेष, वृष आदि राशियों का, या मृगशिरा, आर्द्रा आदि नक्षत्रों का, या ध्रुव, अगस्त्य आदि तारों का नाम नहीं सुना होगा? ये राशियाँ, ये नक्षत्र, ये तारे आकाश में कहाँ हैं, यह जानना अवश्य ही रोचक होगा। तारों की पहचान व्यावहारिक रूप से भी उपयोगी होती है। उनसे दिशा, समय आदि का ज्ञान हो सकता है। इसके अतिरिक्त उल्काओं के मार्ग का सूक्ष्म रूप से वर्णन करने के लिए भी तारों का परिचय आवश्यक है। कई ज्योतिष-प्रेमी प्रायः प्रत्येक रात को अपना बहुत-सा समय उल्का-मार्ग-निरीक्षण में लगाते हैं। उन्हें अधिकांश तारों का नाम ज्ञात रहना आवश्यक है।

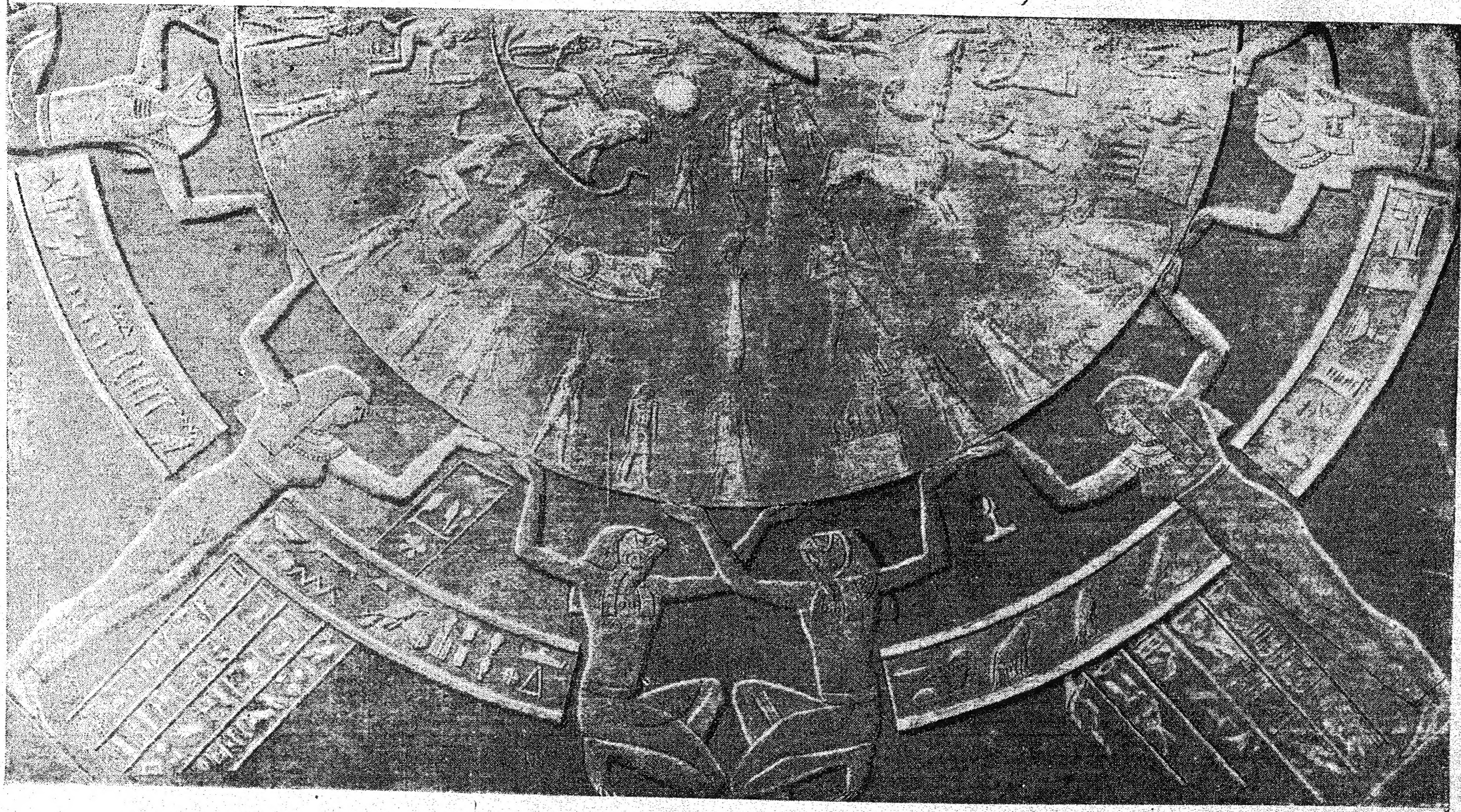
तारा-समूह

तारों को अत्यंत प्राचीन काल से ही विशेष समूहों में बाँट दिया गया है, जिन्हें 'तारा-समूह' कहते हैं। इन तारा-समूहों का नाम भी रख दिया गया है। इनमें से अधिकांश नाम परिचित पशु-पक्षियों के हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि किसी विशेष तारा-समूह के तारे ऐसी स्थितियों में हैं कि उन्हें देखने पर उनके नामवाले जंतु का ही बोध होता है। उदाहरणतः, सिंह और कन्या नामक तारा-समूहों पर आपकी दृष्टि कभी-न-कभी अवश्य पड़ी होगी, परंतु आपको कभी भी यह न सूझा होगा कि उनकी आकृति सिंह या कन्या-सी है। बात यह जान पड़ती है कि



भारतीय पञ्चाङ्ग में प्रयुक्त बारह राशियों के प्रतीक या चिह्न

प्रथम पंक्ति—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या। द्वितीय पंक्ति—तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ, मीन।



मिस्री राशिचक्र का द्योतक एक पाषाण-चित्र—(१) मेष से कन्या राशि तक

यह देन्देरा नामक स्थान में प्राप्त मिस्र के एक सुप्रसिद्ध वर्त्तुलाकार राशिचक्र के पाषाण-चित्र का आधा अंश है, इसका शेष अर्ध-भाग अगले पृष्ठ पर दिया गया है। कृपया इन दोनों भागों को मिलाकर देखिए। राशियों तथा अन्य तारा-समूहों के प्रतीक इस पाषाण-चित्र के मध्य भाग में अंकित गोल घेरे में छोटी-छोटी प्रतिमाओं के रूप में दिए गए हैं। उदाहरणार्थ प्रस्तुत अंश में मेष से कन्या तक की राशियाँ तथा अन्य कुछ तारा-समूहों के चिह्न दिग्दर्शित हैं। इन चित्रों में राशियों अथवा तारा-समूहों के प्रतीकों की स्थिति, आकार-प्रकार आदि एकदम सही नहीं हैं, जैसा कि इस बात से प्रकट है कि मेष और वृष दोनों उलटे दिए गए हैं और वृष की आकृति आधी न होकर पूरी है। सबसे मनोरंजक चित्र तो 'कन्या' का है, जो सिंह की दुम को पकड़कर उस पर खड़ी दिखाई गई है।



मिस्री राशिचक्र का द्योतक एक पाषाण-चित्र—(२) तुला से मीन राशि तक

इस पाषाण-चित्र का आधा भाग पिछले पृष्ठ पर दिया जा चुका है, जिसमें मेष से कन्या राशि तक के प्रतीक आ गए हैं। प्रस्तुत अंश में उसी वर्तुलाकार मध्य भाग में तुला से मीन तक की शेष छः राशियों के प्रतीक देखे जा सकते हैं। पिछले अंश की तरह इसमें भी कई राशिचिह्नों की स्थिति, आकृति आदि में अंतर है। उदाहरण के लिए कुंभ राशिचिह्न के चित्र में जलकुंभ और उससे निकलती हुई जलधारा दोनों हो कुंभ उठानेवाले से उल्टी ओर को हैं। इसी तरह मीन राशि में मछलियाँ समानान्तर दिखाई गई हैं न कि एक दूसरे से विपरीत दिशा में तैरते हुए। इस पाषाण-चित्र के निर्माता वैज्ञानिक ज्योतिष के बजाय फलित ज्योतिष में अधिक दिलचस्पी रखते थे, इसीलिए उन्होंने इन राशिचिह्नों के उपयुक्त आकार-प्रकार पर अधिक ध्यान नहीं दिया। चित्र में तुला के पास जिस सिंह का चित्र है, वह राशिचक्रवाला सिंह नहीं है।

जब तारा-समूहों को कोई-न-कोई नाम देना ही था तो निरर्थक नवीन गढ़े हुए शब्द न लेकर परिचित शब्द ही चुने गए। हाँ, कहीं-कहीं तारों की स्थितियाँ ऐसी अवश्य हैं कि उनको देखकर किसी भावुक ज्योतिषी को किसी विशेष जीवधारी का स्मरण हो आया होगा।

इस तरह रखे गए सभी नाम पशु-पक्षियों के ही नहीं हैं; कुछ नाम देवी-देवताओं के हैं और कुछ निर्जीव वस्तुओं के भी। यह बात तारा-समूहों की वर्त्तमान पाश्चात्य नामावली के बारे में है। भारतवर्ष में सारा आकाश विधिवत् तारा-समूहों में बाँट दिया गया था या नहीं, और यदि बाँट दिया गया था तो उनके नाम क्या थे, यह सब अब निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भारत के प्राचीन साहित्य को देखकर अब इतना ही ज्ञात किया जा सकता है कि विशेष तारों और तारा-समूहों के पृथक्-पृथक् नाम अवश्य थे। उन १२ तारा-समूहों के नाम, जिनके बीच होकर सूर्य अपने वार्षिक मार्ग पर चलता है, ठीक-ठीक वे ही हैं, जो पाश्चात्य देशों में प्रचलित हैं।

पाश्चात्य देशों की सूची टॉलमी (Ptolemy) नामक ज्योतिषी से मिली। यह प्रसिद्ध ज्योतिषी लगभग सन् १४० में अलेक्ज़ैंड्रिया में रहता था। वह बहुत अच्छा लेखक था और अपने समय के ज्योतिष-ज्ञान को अपनी पुस्तक में ऐसे परिमार्जित रूप में वह लिख गया कि वह बहुत समय तक ज्योतिषियों पर अपना सिक्का जमाए रही। यवन भाषा में लिखी उसकी मूल पुस्तक का तो लोप हो गया, परंतु उस पुस्तक का अरबी अनुवाद बचा रह गया है। इस पुस्तक का नाम 'अलमैजेस्ट' (Almagest) है, जिसका अर्थ है 'अतिश्रेष्ठ'। इस शब्द को अरबवालों ने एक यवन (ग्रीक) शब्द के पूर्व अपना उपसर्ग 'अल' लगाकर गढ़ लिया था। अरबी 'अल' का वही अर्थ होता है, जो अंग्रेज़ी में 'दी' (the) का।

इस पुस्तक में ४८ तारा-समूहों का वर्णन है। इन समूहों में ही सारे आकाश का बँटवारा नहीं हो पाया था, क्योंकि दक्षिणी तारे सब के सब छूट गए थे। वे यूनान से दिखलाई भी नहीं पड़ते थे। उत्तरी आकाश में भी कहीं-कहीं स्थान छूट गया था। जैसे-जैसे समय बीतता गया तैसे-तैसे ये त्रुटियाँ प्रत्यक्ष होने लगीं, परंतु बहुत समय तक टॉलमी की कृति में उधेड़बुन करना मानों पाप समझा जाता था। अंत में कोई १५०० वर्ष बाद प्रसिद्ध ज्योतिषी टाइको ब्राही ने उसमें दो तारा-समूह और बढ़ा दिए। फिर तो मार्ग खुल गया और प्रत्येक यशस्काम ज्योतिषी उसमें एक-दो तारा-समूह बढ़ाने लगा—तीन ने तो क्रमानुसार १२, ११ और १४ तारा-समूह बढ़ा दिए। इस प्रकार सन् १८०० में तारा-समूहों की संख्या ११२ हो गई। इस नामकरण-प्रथा से बड़ी गड़बड़ी मची, क्योंकि लोगों में एक मत नहीं था। एक ही तारा किसी के अनुसार एक समूह में था, तो किसी के अनुसार दूसरे में। फिर कुछ समूहों के नाम ऐसे थे, जिन्हें दूसरे राष्ट्रवाले कभी मान ही नहीं सकते थे। धीरे-धीरे कई नाम छोड़ दिए गए और अब केवल ८८ तारा-समूह ही माने जाते हैं। इनकी सूची आगे दी गई है।



प्रसिद्ध ज्योतिषी टॉलमी, जिसके तारा-समूहों की सूची बहुत दिनों तक पश्चिम में मान्य रही।

इतिहास

ऊपर कहा गया है कि तारा-समूहों की योरपीय सूची के अधिकांश नाम टॉलमी से मिले हैं, परंतु स्वयं टॉलमी ने इन्हें नहीं गढ़ा था। उसने प्रायः सभी नामों को हिपार्कस की सूची से लिया था, जो लगभग ३०० वर्ष पुरानी थी। हिपार्कस की सूची स्वयं आराटस (Aratus) की एक कविता से ली गई थी, जो सन् २७० ई० पू० लिखी गई थी। यह कविता यूडॉक्सस की पुस्तक के आधार पर बनी थी, जो सन् ३८० ई० पू० लिखी गई थी। यूडॉक्सस ने अपनी पुस्तक में तारा-समूहों का वर्णन उस खगोल-प्रतिमा से लिया था, जिसे वह मिस्र देश से ख़रीद लाया था। यूडॉक्सस के सैकड़ों वर्ष पहले लिखे होमर आदि के काव्य-ग्रंथों में भी कहीं-कहीं विशेष तारा-समूहों की चर्चा है और वह भी उसी प्रणाली के अनुसार है, जो यूडॉक्सस की पुस्तक में मिलती है। मिस्र देश में यही प्रणाली और पहले से विद्यमान थी।

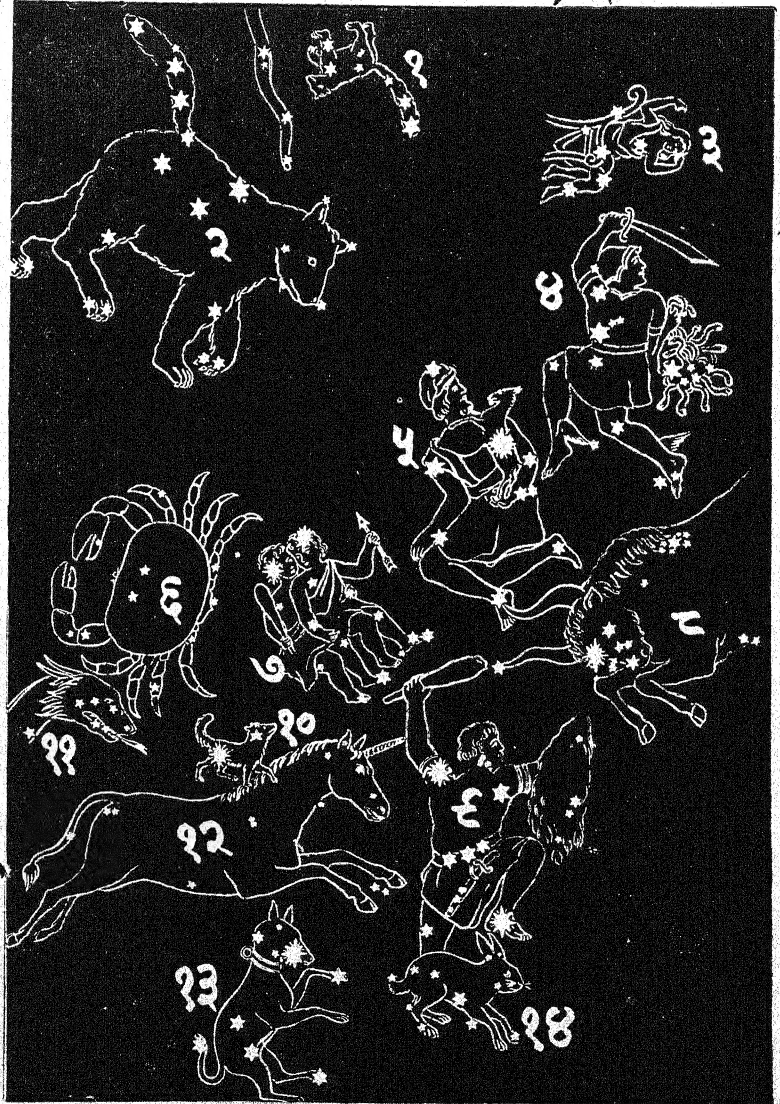
यह प्रणाली आई कहाँ से? लोगों का विश्वास है कि मिस्र और यवन देशों को यह प्रणाली बाबुल लोगों (Babylonians) से मिली और स्वयं बाबुलों को यह प्रणाली सुमेर लोगों (Sumerians) से मिली। कूगलर (Kugler) के अन्वेषणों से अब इसमें कोई भी संदेह नहीं रह गया है। ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व की मिट्टी की कई तख़्तियाँ मिली हैं, जिनके लेखों में उन तारा-

समूहों की ही चर्चा मिलती है, जो पीछे ग्रीस में प्रचलित हुए। परंतु ध्यान रखना चाहिए कि समानता केवल उनकी आकृतियों में है—मछली के स्थान पर मछली, मनुष्य के स्थान पर मनुष्य और स्त्री के स्थान पर स्त्री है, परंतु नामों में बहुत भेद है। उदाहरणतः, 'लीओ' (सिंह) और 'इक्वूलियस' (टट्टू) के बदले सुमेरी भाषा में 'उरगुला' (= बड़ा कुत्ता) और 'सिसु' (= अश्व) शब्दों का प्रयोग किया गया है।

राशि और नक्षत्र

तारों के बीच सूर्य, चन्द्रमा और ग्रह आकाश के जिस भाग में चलते हैं, वह सँकरा मेखलाकार प्रदेश 'राशिचक्र' या 'राशिमंडल' (Zodiac) कहलाता है। इस चक्र को बारह बराबर भागों में बाँटने पर प्रत्येक भाग को एक 'राशि' कहते हैं। यही भारतीय प्रथा है। इन राशियों के नाम क्रमानुसार मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुंभ और मीन हैं। वस्तुतः ठीक-ठीक बराबर बारह भागों में राशिचक्र को बाँटने की प्रथा पीछे पड़ी होगी। आरंभ में संभवतः भारतवर्ष में भी ये बारह भाग मोटे ही हिसाब से बराबर रहे होंगे और मेष, वृष, मिथुन आदि केवल तारा-समूहों के नाम रहे होंगे। पीछे गणना की सुविधा के लिए भाग बराबर मान लिये गए होंगे। विदेश में आज भी राशिचक्र के बारह भाग बराबर नहीं हैं; वे मेष, वृष आदि तारा-समूहों की छोटाई-बड़ाई के अनुसार ही छोटे-बड़े हैं। जब-कभी कोई योरपीय ज्योतिषी कहेगा कि बृहस्पति वृष में है तो उसका अर्थ यह होगा कि बृहस्पति ग्रह कहीं उस तारा-समूह में है, जिसका नाम वृष है; परंतु जब कोई भारतीय ज्योतिषी भारतीय पद्धति के अनुसार कहेगा कि बृहस्पति वृष में है तो उसका अर्थ यह होगा कि राशिचक्र के १२ बराबर खंडों में से बृहस्पति द्वितीय खंड में है।* इसीलिए यदि प्रथम अर्थ का संकेत करना हो तो उचित होगा कि

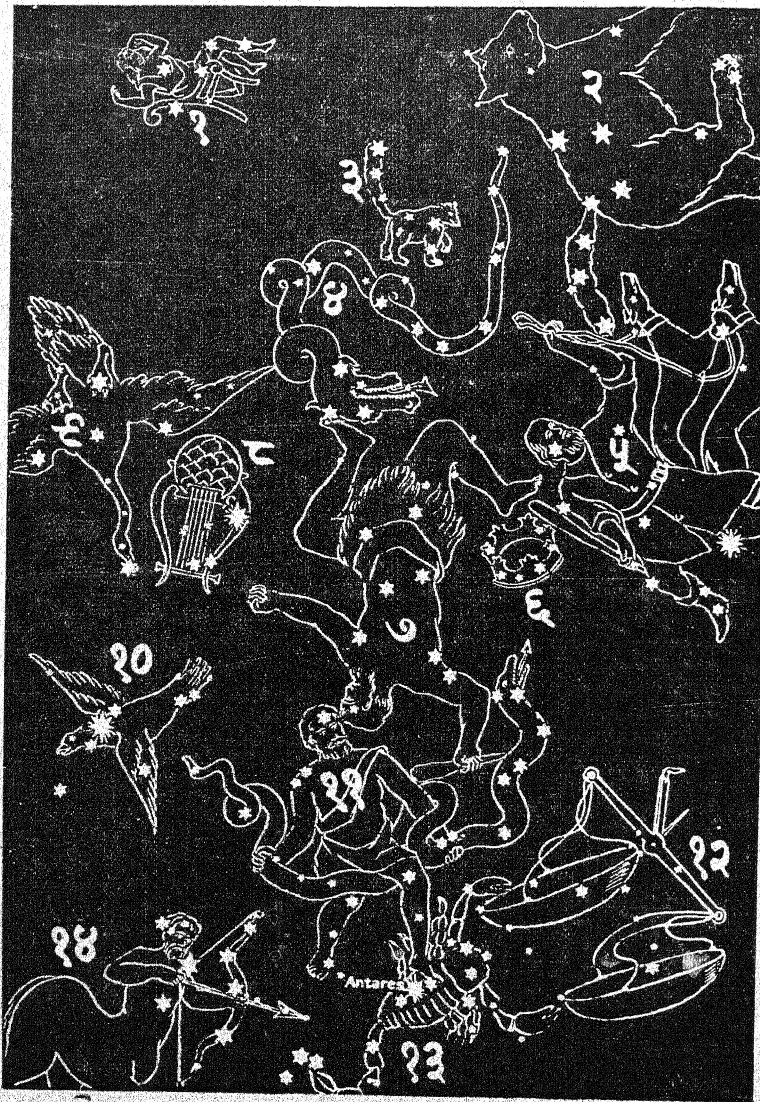
* प्रथम खंड तारों के हिसाब से कहाँ आरंभ होता है, इस पर विभिन्न भारतीय ज्योतिषियों में कुछ मतभेद है; परंतु इस प्रश्न पर कभी फिर विचार किया जायगा।



तारा-समूह और उनके कल्पित रूप—(५) जाड़े में
१. लघु सप्तर्षि (Ursa Minor); २. सप्तर्षि (Ursa Major); ३. कश्यपी; ४. पारसीय; ५. रथी; ६. कर्क ७. मिथुन; ८. वृष; ९. आग्रहायण; १०. लघु कुक्कुर; ११. सर्प; १२. एकशृङ्ग; १३. बृहत् कुक्कुर; १४. शशक।

कहा जाय कि बृहस्पति वृष तारा-समूह (constellation) में है, या वृष राशिचिह्न (sign of the Zodiac) में है। जब भारतीय अर्थ को सूचित करना हो तभी कहना चाहिए कि बृहस्पति वृष राशि में है।

भारतवर्ष की प्राचीनतम पुस्तकों में राशियों की चर्चा नहीं है। उनमें इस मेखलाकार प्रदेश को, जिसे हम अब 'राशिमंडल' कहते हैं, २७ (कभी-कभी २८) बराबर भागों में बाँटकर प्रत्येक को एक नक्षत्र कहा गया है, परंतु यह निश्चित है कि आरंभ में 'नक्षत्र' शब्द उन २७ या २८ छोटे-छोटे तारा-समूहों के लिए ही प्रयुक्त होता था जो चंद्रमा के मार्ग के आसपास पड़ते हैं। इन छोटे तारा-समूहों को 'तारका-समूह' (asterism) कहते हैं। इनमें से किन्हीं भी दो सन्निकट तारा-समूहों को चुनने पर उनके बीच की दूरी कहीं कम, कहीं अधिक निकलने के कारण गणना करने में जब असुविधा हुई होगी तो नक्षत्र शब्द में लगभग वैसा ही अंतर आ गया होगा जो ऊपर राशि-चिह्न और राशि में बतलाया गया है। उपरोक्त दो अर्थों के अतिरिक्त नक्षत्र का एक अर्थ तारा भी है। केवल प्रसंग से ही पता चलता है कि किसी विशेष स्थान में नक्षत्र शब्द का क्या अर्थ है। चंद्रमार्ग के पास स्थित तारा-समूह के अर्थ में नक्षत्रों की चर्चा २५०० वर्ष ई०पूर्व के भारतीय ग्रंथों में वर्त्तमान है और राशियों की चर्चा ज्योतिष वेदांग में भी नहीं है, जिसका समय लगभग बारहवीं शताब्दी ई० पू० है। राशियों की चर्चा प्रथम बार सन् ५५० ईस्वी में लिखी वराहमिहिर की 'पंचसिद्धांतिका' में मिलती है उनकी और सूची ठीक यवनों की-सी है। इसी से समझा जाता है कि राशियों की प्रथा भारतवर्ष में ग्रीस से आई।



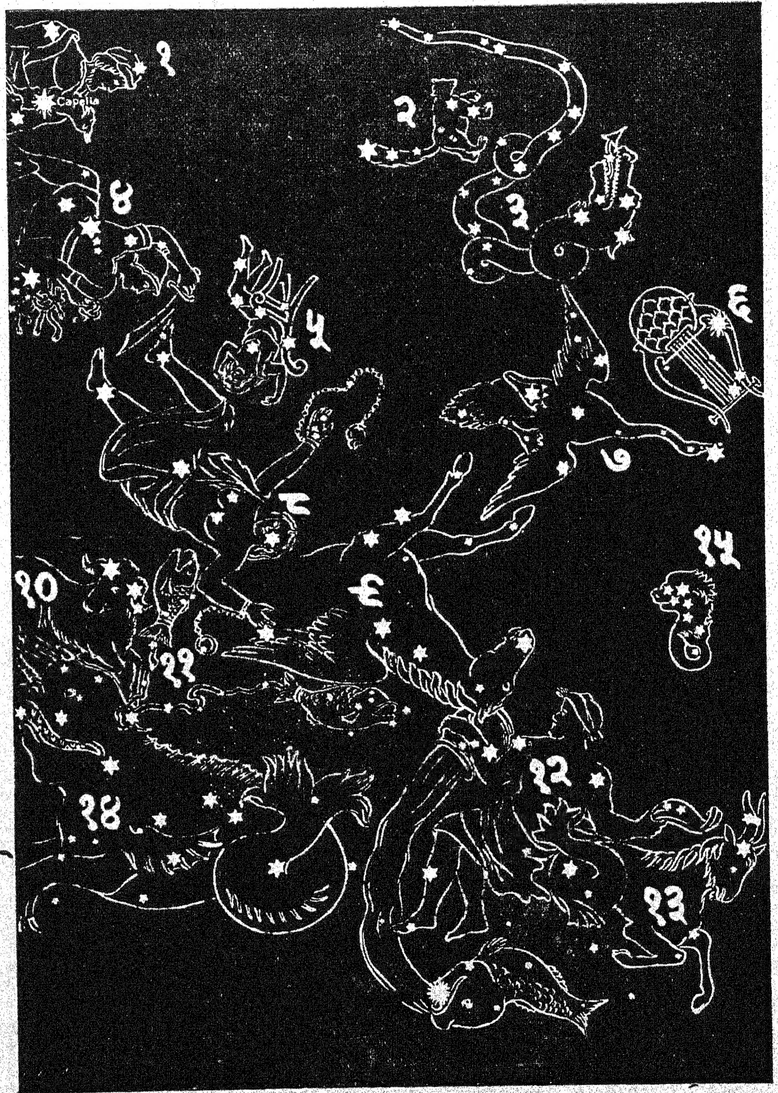
तारा-समूह और उनके कल्पित रूप—(२) शरदकाल में
१. कश्यपी ; २. सप्तर्षि ; ३. लघु सप्तर्षि ; ४. अजगर ; ५. मृगया-कुक्कुर ; ६. उत्तर किरीट ; ७. हरकुलीश ; ८. वीणा ; ९. हंस ; १०. गरुड़ ; ११. सर्पधर ; १२. तुला ; १३. वृश्चिक ; १४. धनु।

राशिचक्र को १२ भागों में बाँटने का कारण यह है कि वर्ष में साधारणतः १२ बार पूर्णिमा होती है। चीनियों ने भी राशिचक्र को १२ भागों में बाँटा था, परंतु उनके नामों के अर्थ थे श्वान, कुक्कुट, वानर, मेष, अश्व, सर्प, अजगर, शशक, व्याघ्र, वृष, मूषक और शूकर। गत तीन-चार सौ वर्षों से वहाँ भी मेष, वृष, मिथुन आदि राशिचिह्न चल रहे हैं।

राशिचक्र (वस्तुतः चंद्रमार्ग) को २७ या २८ भागों में बाँटने का कारण यह है कि चंद्रमा तारों के हिसाब से एक चक्कर २७⅓ दिन में लगाता है, और २७⅓ से निकटतम पूर्ण संख्याएँ २७ और २८ हैं। चीनियों और अरब-निवासियों में भी २७ या २८ भागों में राशिचक्र को बाँटने की प्रथा थी।

एक कठिन प्रश्न

हिंदी-लेखकों के लिए एक कठिन प्रश्न यह उठता है कि नवीन तारा-समूहों के नामों के लिए क्या किया जाय; उनको ज्यों-का-त्यों उनके लैटिन रूप में रखा जाय, अथवा उनका हिंदी या संस्कृत में अनुवाद कर दिया जाय। लैटिन नामों के उपयोग में लाभ यह है कि अंग्रेज़ी पुस्तकें पढ़ते समय पाठक उनसे अपरिचित न रहेंगे। इस लाभ को कुछ लोग इतना महत्वपूर्ण समझते हैं कि वे लैटिन नामों को ही पसंद करते हैं, परन्तु दूसरी ओर यह देखना पड़ता है कि ८८ निरर्थक शब्दों से परिचित हो जाना हिंदी-पाठकों के लिए सुगम नहीं है। केवल इतना ही नहीं, इन शब्दों का षष्ठी रूप लैटिन व्याकरण के नियमों के आधार पर बनता है और इसलिए लगभग ८८ शब्दों को और याद रखना पड़ता है। उदाहरणतः मीन, कन्या और कुंभ नामक तारा-समूहों के लैटिन नाम क्रमानुसार पिसीज़ (Pisces), वर्गो (Virgo) और अक्वेरियस (Aquarius) हैं, परन्तु यदि यह कहना हुआ कि 'पिसीज़वाला वह तारा जो यूनानी अक्षर ज़ीटा द्वारा सूचित किया जाता है' तो ज़ीटा पिसियम (Pisium) कहा जायगा, न कि ज़ीटा पिसीज़। पिसियम का अर्थ है 'पिसीज़ का' और इस प्रकार ज़ीटा पिसियम का अर्थ है 'पिसीज़ का ज़ीटा'। यदि अंग्रेज़ी में लिखी पुस्तकों को ठीक-ठीक समझना हो और अंग्रेज़ी में ज्योतिष-संबंधी बातों को लिखना हो तो निस्संदेह पिसीज़ और पिसियम दोनों रूपों को जानना चाहिए और दोनों के भेदों को समझना चाहिए। परंतु प्रश्न यह है कि क्यों हिंदी के पाठकों के सिर पर यह झंझट मढ़ी जाय और ज्योतिष-ज्ञान की प्राप्ति से उत्पन्न उनके आनंद को इस प्रकार क्यों किरकिरा कर दिया जाय! लैटिन



तारा-समूह और उनके कल्पित रूप—(२) ग्रीष्म में
१. रथी; २. लघु सप्तर्षि; ३. अजगर; ४. पारसीय; ५. कश्यपी; ६. वीणा; ७. हंस; ८. अंतरमदा; ९. खगाश्व; १०. मेष; ११. मीन; १२. कुंभ और दक्षिण मीन; १३. मकर; १४. तिमि; १५. उलूपी।

जानने से उन्हें क्या लाभ होगा ? यदि पाठकों में से कभी किसी को अंग्रेज़ी में ज्योतिष की पुस्तकें पढ़नी ही पड़ेंगी तो वह चाहेगा तो इन्हें अपना सीख लेगा। उपरोक्त कठिनाइयाँ कोरी कल्पना मात्र नहीं हैं। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की 'वैज्ञानिक शब्दावली' के श्रीशुकदेव पांडे, एम० एस-सी०, द्वारा संपादित ज्योतिष-संबंधी खंड में प्रथमा और षष्ठी रूपों में ख़ूब गड़बड़ी हो गई है ; तारा-समूहों के नाम में कहीं एक रूप है तो कहीं दूसरा। यदि लैटिन में हिंदी की तरह केवल एक विभक्ति लगाने से काम चल जाता—जैसे मीन का, कन्या का, इत्यादि, तब तो एक रूप जानने पर दूसरे के जानने में कोई कठिनाई न पड़ती, परंतु लैटिन में संस्कृत के मीनस्य, कन्यायाः इत्यादि की तरह षष्ठी रूप बनाने के नियम शब्दानुसार पृथक्-पृथक् हैं।

लैटिन नामों को ज्यों-का-त्यों रखने में एक छोटी-सी कठिनाई और भी है, और वह है उन शब्दों के शुद्ध उच्चारण की। उच्चारणों को हिंदी में कैसे लिखा जाय ? यह निश्चय है कि रोमन अक्षरों में लिखे एक ही लैटिन शब्द को अंग्रेज़, फ्रांसीसी और जर्मन एक ही तरह से नहीं उच्चारण करेंगे ; विभिन्न अंग्रेज़ों के उच्चारणों में भी कभी-कभी भेद रहता है (भिन्न-भिन्न पुस्तकों में दिए उच्चारणों से यह बात प्रत्यक्ष है)। फिर, एक ही उच्चारण को सुनकर या कोष में देखकर विभिन्न प्रांतों के भारतीय एक ही तरह से उस शब्द को न लिखेंगे। एक ही प्रांत के लोगों में भी समानता न होगी। उदाहरणतः, नागरी-प्रचारिणी सभा के उपरोक्त कोष में वलपेक्युला (Vulpecula) को 'भल्पेक्यूला' लिखा है, केनीज़ वेनैटिसी (Canes Venatici) को 'केनेभिनाटीसी' और सिगनस (Cignus) को 'साइगनस' लिखा है। 'वी' के लिए 'भ' या 'इ' के बदले 'आई' लिखने से कितने लोग सहमत होंगे ?

लैटिन को ज्यों-का-त्यों लेने पर 'सर्प' अर्थवाले 'Serpens' को सरपेन्स (या ऐसा ही कुछ) लिखना पड़ेगा और उपरोक्त कोष में ऐसा किया भी गया है, परंतु इस कोष के भी संपादक की हिम्मत नहीं पड़ी है कि मेष, वृष, आदि प्राचीन नामों के बदले लैटिन नाम रक्खे ! अब प्रश्न यह है कि जब 'एरिईज़' को मेष किया जा सकता है तो 'सरपेन्स' को सर्प या सर्पः क्यों न लिखा जाय ? हमारे आचार्यों ने जब कभी किसी विदेशी तारा-समूह को अपनाया था तो उसका नाम अपनी भाषा के अनुसार रख लिया था। बाबुलों ने सुमेरी नामों का अनुवाद कर लिया था, और मिस्रवालों ने बाबुल नामों का। यवनों ने भी अपनी ही भाषा के नाम रक्खे थे, तो फिर हिंदी में हिंदी ही नाम क्यों न रक्खे जायँ ?

ऊपर के कई कारणों पर विचार करके हमने यही निश्चय किया है कि यथासंभव लैटिन शब्दों का हिंदी रूपांतर कर लिया जाय। इस लेख के साथ जो नक्षत्र-सूची दी गई है, उसमें ये रूपांतर दिए गए हैं। ठेठ हिंदी शब्दों के बदले अधिकतर संस्कृत शब्द इसलिए चुने गए हैं कि वे बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में भी लिये जा सकें।

तारा-समूहों की सूची

(उच्चारण देवनागरी अक्षरों में दिए गए हैं, परंतु बिना ' के ए, ऐ, ओ, ऑ के स्वरों को ह्रस्व और प्रत्येक शब्दखंड के अंतिम मात्रा-रहित अक्षर को हलन्त-युक्त समझना चाहिए।)

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिन्दी नाम	टिप्पणी
Andromeda	ऐन-ड्रॉम इ-डा ×	Andromedae	अंतरमदा † ÷	आयोपानरेश की लड़की !
Antlia	ऐण्ट'लि-आ	Antliae	पंप	वायु निकालने का यंत्र (संस्कृत—'रिक्तीकर')।
Apus	ए'पस	Apodis	खग	
Aquarius	अ-क्वे'रि-अस	Aquarii	कुंभ *	
Aquila	ऐक'वि-ला	Aquilae	गरुड़	

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिंदी नाम	टिप्पणी
Ara	ऐ'रा	Arae	वेदी	
Aries	ए'रि-ईज़	Arietis	मेष *	= मेढ़ा।
Auriga	ऑ-राइ'गा	Aurigae	रथी	
Bootes	बो-ओ'टीज़	Bootis	भूतेश †	बोओटीज़ = गौ चरानेवाला।
Caelum	सी'लम	Caeli	टंक	= पत्थर गढ़ने की टाँकी।
Camelopardus	कै-मेल'ओ-पार्ड-अस	Camelopardi	जिराफ़	ऊँट की तरह चित्तीदार पशु (संस्कृत—'चित्रोष्ट्र')।
Cancer	कैन'सर	Cancri	कर्क *	= केकड़ा।
Canes Venatici	के'नीज़ वे-नैट'इ-सी (या इ की)	Canum Venaticorum	मृगयाकुक्कर	
Canis Major	के'निस मे'जर	Canis Majoris	बृहत् कुक्कुर	
Canis Minor	के'निस माइ'नर	Canis Minoris	लघु कुक्कुर	
Capricornus	कैप-रि-कॉर'नस	Capricorni	मकर *	मकर = मगर; कैप्रिकॉर्नस= बकरा; परंतु प्राचीन चित्रों में इस बकरे का पिछला शरीर मछली-सा बना रहता था। अंग्रेज़ी में इसे 'Sea-goat' कहते हैं।
Carina	क-री'ना	Carinae	नौतल	नौका का तल। नौतल, दिक्-सूचक, नौपृष्ठ और नौवस्त्र मिलकर पहले नौका (Argo) कहलाते थे।
Cassiopeia	कैस-इ-ओ-पी'या	Cassiopeiae	कश्यपी ÷	आयोपानरेश की पत्नी।
Centaurus	सेन-टॉ'रस	Centauri	किन्नर	सेंटॉरस (ग्रीक शब्द 'केण्टॉरस' से) = घोड़ा, जिसके सिर और गरदन के बदले मनुष्य का सिर, धड़ और हाथ होना माना जाता था।
Cepheus	सी'फ़्युस; सी'फ़ीयस	Cephei	सुपूज्य	आयोपानरेश।

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिन्दी नाम	टिप्पणी
Cetus	सी'टस	Ceti	तिमि †	(संस्कृत) तिमि = ह्वेल । इसको पारसीय ने मारा था ।
Chamaeleon	का-मी'लि-अन	Chamaelontis	गिरगिट	(संस्कृत) कृकलास ।
Circinus	सर'सि-नस	Circini	परकार	= वृत्त खींचने का यंत्र ।
Columba	को-लम'बा	Columbae	कपोत	
Coma Berenices	को'मा बेरे-नाइ'सीज़	Comae Berenices	केश	
Corona Australis	को-रो'ना ऑस-ट्रे'लिस	Coronae Australis	दक्षिण किरीट	
Corona Borealis	को-रो'ना बो-रि-ऐ'लिस	Coronae Borealis	उत्तर किरीट	
Corvus	कॉर'वस	Corvi	काक	
Crater	क्रे'टर	Crateris	चषक	= प्याला ।
Crux	क्रक्स	Crucis	स्वस्तिक	
Cygnus	सिग'नस	Cygni	हंस †	
Delphinus	डेल-फ़ाइ'नस	Delphini	उलूपी	एक प्रकार का मत्स्य ; सूँस ।
Dorado	डो-रा'डो	Doradus	खड्गमत्स्य	नागरीप्रचारिणी सभा की 'वैज्ञानिक शब्दावली' से ।
Draco	ड्रे'को	Draconis	अजगर	नागरीप्रचारिणी सभा की 'वैज्ञानिक शब्दावली' से ।
Equuleus	इ-क्वू'लि-अस	Equulei	टट्टू	
Eridanus	ए-रिड'आ-नस	Eridani	वैतरणी	
Fornax	फ़ॉर'नैक्स	Fornacis	भट्ठी	(संस्कृत) भ्राष्ट्र या अग्निकुंड ।
Gemini	जेम'इ-नाइ	Geminorum	मिथुन *	एक साथ उत्पन्न बच्चे । पश्चिम के चित्रों में दो भाई और भारतवर्ष में एक स्त्री और दूसरा पुरुष बना रहता है ।
Grus	ग्रस	Gruis	बक	

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिंदी नाम	टिप्पणी
Hercules	हर'क्यू-लीज़	Herculis	हरकुलिश †	यवन वीर, जिसने १२ अद्भुत कर्म किए थे। आराटस की सूची में नाम कुछ और ही था। नवीन नाम पीछे पड़ा।
Horologium	हॉर-ओ-लो'जि-अम	Horologii	होरामाप	= घड़ी
Hydra	हाइ'ड्रा	Hydrae	जलसर्प	
Hydrus	हाइ'ड्रस	Hydri	जलसर्पिणी	पहले यह समूह जलसर्प वाले समूह में सम्मिलित था। हाइड्रस और हाइड्रा प्राय:पर्यायवाची हैं।
Indus	इन'डस	Indi	सिंधु	
Lacerta	ला-सर'टा	Lacertae	सरट	= छिपकली।
Leo	ली'ओ	Leonis	सिंह *	
Leo Minor	ली'ओ माइ'नर	Leonis Minoris	लघु सिंह	
Lepus	ले'पस	Leporis	शशक †	= खरगोश।
Libra	लाइ'ब्रा	Librae	तुला *	
Lupus	ल्यू'पस	Lupi	वृक	
Lynx	लिङ्क्स	Lyncis	विडाल	= बनबिलाव।
Lyra	लाइ'रा	Lyrae	वीणा	
Mensa	मेन'सा	Mensae	पठार	पूरा नाम है मॉन्स मेन्सा ; अर्थ है पठारी पहाड़।
Microscopium	माइ-क्रो-स्को'पि-अम	Microscopii	सूक्ष्मदर्शक	
Monoceros	मो-नॉस'एर-ऑस	Monocerotis	एकशृङ्ग	एक सींगवाला काल्पनिक जंतु।
Musca	मस'का	Muscae	मक्षिका	
Norma	नॉर'मा	Normae	गोनिया	बढ़ई का समकोणमापक यंत्र।

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिंदी नाम	टिप्पणी
Octans	ऑक'टैन्ज़	Octantis	अष्टमांश	(ना० प्र० वै० शब्दावली से) एक कोणमापक यंत्र।
Ophiucus	ऑफ़-इ-यू'कस	Ophiuchi	सपधर	
Orion	ओ-राइ'अन	Orionis	आग्रहायण *	एक शिकारी जिसकी चर्चा यवन साहित्य में है। ब्राउन को संदेह है कि यह शब्द ग्रीक न होकर अक्कादी भाषा के 'उरु-अंत' का रूपांतर है। 'आग्रहायण' प्राचीन संस्कृत शब्द है; अर्थ है वर्षारंभवाला। जब पूर्णिमा के समय चंद्रमा इस समूह में रहता था तो वर्ष आरंभ होता था।
Pavo	पे'वो	Pavonis	मयूर	
Pegasus	पेग'आ-सस	Pegasi	खगाश्व	= उड़नेवाला घोड़ा। एक कथा के अनुसार पारसीय (Perseus) इसी पर चढ़कर अंतरमदा को बचाने आया था। दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने इसका नाम 'उच्चैश्रवा' रक्खा है, परंतु यह उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि यह इंद्र का घोड़ा था।
Perseus	पर'स्यूस या पर'सी-अस	Persei	पारसीय †	यवन वीर, जिसने आयोपानरेश की लड़की को तिमि (Cetus) से बचाया था और तब उससे विवाह किया था।
Phoenix	फ़ी'निक्स	Phoenicis	गृध्र	काल्पनिक गृध्र, जो अमर माना जाता है और जलकर भस्म हो जाने पर फिर जी उठता है।
Pictor	पिक'टॅर	Pictoris	चित्रकार	
Pisces	पिस'ईज़	Piscium	मीन *	

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिंदी नाम	टिप्पणी
Piscis Australis	पिस'इस ऑस-ट्रे'लिस	Piscis Australis	दक्षिण मीन	
Puppis	प्यूप'इस	Puppis	नौपृष्ठ	= नौका का पिछला भाग।
Pyxis	पिक'सिस	Pyxis	दिक्सूचक	= नाविकों का दिक्सूचक यंत्र। पहले इसका नाम था मे'लस (Malus)= (नाव का) मस्तूल।
Reticulum	री-टिक'यु-लम	Reticuli	जाल	
Sagitta	सा-जिट'आ	Sagittae	सायक	= बाण।
Sagittarius	साज-इ-टे'रि-अस	Sagittarii	धनु *	
Scorpio	स्कॉर'पि-ओ	Scorpii	वृश्चिक *	= बिच्छू।
Sculptor	स्कल्प'टर	Sculptoris	शिल्पी	= पत्थर गढ़कर मूर्त्ति बनानेवाला।
Scutum	स्क्यू'टम	Scuti	ढाल	
Serpens	सर'पेन्ज़	Serpentis	सर्प	
Sextans	सेक्स'टैन्ज़	Sextantis	षष्ठमांश	एक कोणमापक यंत्र।
Taurus	टॉ'रस	Tauri	वृष *	= साँड़।
Telescopium	टेले-स्को'पि-अम	Telescopii	दूरदर्शक	
Toucan	टू'कन	Toucanis	चक्रवाक	वस्तुतः टूकन अमेरिका का एक पक्षी है, जिसकी चोंच बहुत बड़ी होती है। यह तारा-समूह बहुत दक्षिण में है। इसका नाम बेयर ने रक्खा था।
Triangulum	ट्रि-ऐन'ग्यु-लम	Trianguli	त्रिकोण	
Triangulum Australe	ट्रि-ऐन'ग्यु-लम ऑस्ट्रे'ली	Trianguli Australis	दक्षिण त्रिकोण	

लैटिन नाम	उच्चारण	षष्ठी रूप	हिंदी नाम	टिप्पणी
Ursa Major	उर'सा मे'जर	Ursae Majoris	सप्तर्षि ❊	उर्सा = भालू ; मेजर=बड़ा। सुमेर लोग इसे मरगिड्डा = (रथ) कहते थे। भारतीय 'सप्तर्षि' कहते हैं।
Ursa Minor	उर'सा माइ'नर	Ursae Minoris	लघु सप्तर्षि †	उर्सा = भालू ; माइनर = छोटा। सुमेर लोग इसे छोटा रथ मानते थे।
Vela	वी'ला	Velorum	नौवस्त्र	= नौका का पाल
Virgo	वर'गो	Virginis	कन्या ❊	
Volans	वो'लैन्ज़	Volantis	उड़ंकू	= उड़नेवाली। पूरा नाम Piscis Volans = उड़नेवाली मछली।
Vulpecula	वल-पेक'यु-ला	Vulpeculae	लोमश	= लोमड़ी।

× उच्चारण नार्टन के 'नक्षत्र-मानचित्र' (Norton's Star Atlas) से लिये गए हैं। जहाँ दो उच्चारण हैं, वहाँ दोनों इसी पुस्तक से लिये गए हैं। स्थानाभाव के कारण षष्ठी रूपों के उच्चारण यहाँ नहीं दिए गए हैं। जिन्हें आवश्यकता हो वे उपरोक्त पुस्तक में देखें।

† जिन नामों के आगे ऐसा चिह्न है, वे श्री० महावीरप्रसाद श्रीवास्तव की पुस्तक (सूर्यसिद्धांत-विज्ञानभाष्य) से लिये गए हैं।

❊ जिन नामों के आगे ऐसा चिह्न है, वे अत्यंत प्राचीन काल से चले आ रहे हैं।

÷ प्रॉक्टर (Proctor) के अनुसार ये नाम प्राचीन हैं। अपने 'Star Lessons' में वह लिखता है कि विल्फ़ोर्ड का कथन है कि "[An Indian astronomer] brought me a very rare and curious work in Sanskrit with drawings of *Capuja* (Cepheus) and *Casyapi* (Cassiopeia) seated and holding a lotus flower in her hand, of *Antarmada* chained with the fish (Cetus) beside her, and of *Parasiea* (Perseus) who held the head of a monster which he had slain." इससे पता चलता है कि उस समय 'सीफियस' के लिए संस्कृत में 'कपूज' शब्द था। क और स का अंतर कई शब्दों में है, क्योंकि ग्रीक का 'क' लैटिन में अकसर 'स' हो जाता है। उदाहरणतः, केण्ट्रॉन (ग्रीक), सेण्टर (लैटिन द्वारा केण्ट्रान से ही निकला अंग्रेज़ी शब्द) और केन्द्र (संस्कृत) शब्दों की तुलना कीजिए। इसी प्रकार सीटस (Cetus) का अरबी नाम केतस था। कोई आश्चर्य न होगा यदि कभी प्रमाण मिले कि संस्कृत केतु (सूर्य और चंद्रमा को निगलनेवाला राक्षस) भी वस्तुतः यही शब्द है। उपर्युक्त समता के कारण और इस बात से भी कि प्रसिद्ध यवन विद्वान् पिथागोरस भारतवर्ष आया था, प्रॉक्टर का विश्वास था कि ग्रीस में राशियों का ज्ञान भारतवर्ष से गया था।



संगीतमय ध्वनि का उत्पादन और वाद्ययंत्र

इस स्तंभ के अन्तर्गत पिछले कुछ प्रकरणों में यह बताया जा चुका है कि ध्वनि क्या चीज़ है, किस प्रकार कंपन द्वारा उसकी लहरें उत्पन्न होती हैं और किन नियमों के अनुसार उसका गमनागमन और परावर्त्तन होता है। आइए, प्रस्तुत प्रकरण में यह जानने का यत्न करें कि विभिन्न प्रकार के वाद्ययंत्रों द्वारा जो सुरीली ध्वनियाँ उत्पन्न की जाती हैं, वे किस प्रकार पैदा होती हैं।

संगीतमय ध्वनि और निरे कोलाहल का अन्तर तो संगीतकला से अनभिज्ञ व्यक्ति भी काफ़ी समझता है। संगीत की सुरीली ध्वनियाँ किसके मन को नहीं मोह लेतीं? किन्तु आपने कभी यह भी सोचा है कि अनाड़ी के हाथ से हारमोनियम में से कर्कश ध्वनि क्यों निकलती है, जबकि उसी वाद्ययंत्र से गुणी संगीतज्ञ ऐसी सुमधुर ध्वनियाँ उत्पन्न करता है, जिन्हें सुनकर हमारा मन मोर की तरह नाच उठता है?

इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक प्रयोग किया जा सकता है। सायकिल को उसके स्टैण्ड पर खड़ी करके उसके पिछले पहिए को धीरे-धीरे घुमाइए। तब लकड़ी के एक पतले डण्डे के सिरे को पहिए की तीलियों पर टिका दीजिए—तुरन्त 'कट' 'कट' की आवाज़ आपको एक के बाद दूसरी सुनाई पड़ेगी। अवश्य ही यह आवाज़ निरी कर्कश लगती है। अब पहिए को ख़ूब तेज़ी के साथ घुमाइए। आप देखेंगे कि तीलियों की 'कट' 'कट' भी अब जल्दी-जल्दी होने लगती है, साथ ही यह आवाज़ अब अलग-अलग न सुनाई देकर एक मधुर ध्वनि का रूप धारण कर लेती है। अतः कर्कश ध्वनि और संगीत में हम यह अन्तर पाते हैं कि सुरीली ध्वनियों के लिए ध्वनिउत्पादक का कम्पन नियमित रूप से प्रति सेकण्ड समान संख्या में देर तक होते रहना चाहिए। कोलाहल का बोध हमें उस दशा में होता है जबकि ध्वनि-उत्पादक का कम्पन अनियमित तथा क्षणिक होता है। हाथ से काँच का गिलास फ़र्श पर गिरकर अचानक आवाज़ उत्पन्न करता है, और वह आवाज़ तुरन्त ही मर-सी जाती है। इसके प्रतिकूल सितार के तार को उँगली से एक बार कम्पित कर दीजिए, आप देखेंगे कि काफ़ी देर तक तार का नियमित कम्पन जारी रहेगा और उससे उत्पन्न हुई ध्वनि-लहरें हमारे कानों तक पहुँचती रहेंगी। इसी कारण उसकी ध्वनि हमें सुरीली मालूम होगी।

कोलाहल में विभिन्न कम्पन-संख्याओं की ध्वनियाँ बिना किसी क्रम में मिली-जुली रहती हैं। उनका कोई हिसाब नहीं होता। किन्तु सुरीली ध्वनि यदि शुद्ध स्वर की हुई तो उसकी कम्पन-संख्या कोई एक निश्चित् संख्या ही होगी अथवा यदि मिश्रित स्वर की सुरीली ध्वनि में ऐसी ध्वनियाँ मिली होंगी तो उनकी कम्पन-संख्या में पूर्णांकों का अनुपात होगा।

संगीतमय ध्वनि उत्पन्न करने के निमित्त विभिन्न प्रकार के अनेक वाद्ययंत्रों का निर्माण किया गया है। इन वाद्ययंत्रों को हम मुख्यतः तीन श्रेणी में विभाजित कर सकते हैं—वायुजनित स्वरयंत्र, रज्जुनिर्मित स्वरयंत्र, तथा चमड़े से मढ़े हुए यंत्र। प्रथम श्रेणी में बाँसुरी, अलगोजा, हारमोनियम तथा ऑर्गन आते हैं; द्वितीय में बेला, सारंगी और सितार आदि; तीसरी श्रेणी में ढोल, नगाड़ा और तबला।

वायुजनित स्वरयंत्रों के सिद्धान्त को समझने के लिए निम्न प्रयोग सहायक हो सकता है। एक चौड़े मुँह की नली लीजिए, जिसके मुँह दोनों ओर से खुले हों। अब एक ओर इसके मुँह पर हथेली से आघात करके उसे बन्द कर दीजिए—आप 'पप' की-सी आवाज़ सुनेंगे। यदि तेज़ी से बार-बार ऐसा आघात आप करें, तो नली के भीतर की वायु में उतनी ही बार कम्पन् होगा और फलस्वरूप एक मधुर संगीतमय ध्वनि नली में से बाहर की हवा में फैलेगी। यही बाँसुरी की ध्वनि का सिद्धान्त है।

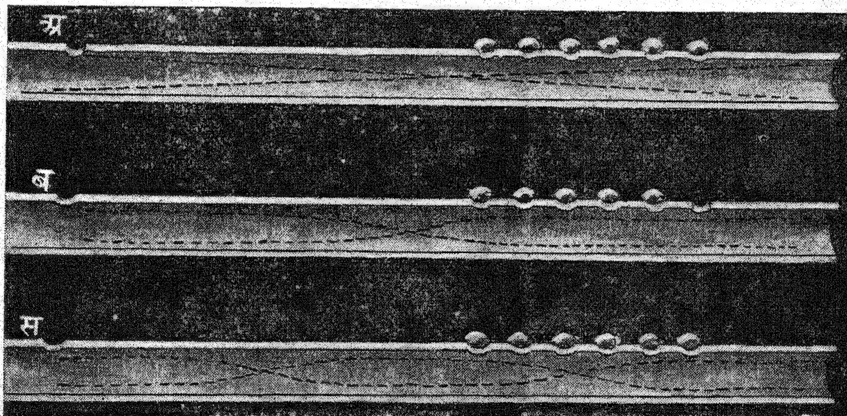
बाँसुरी के मुँह पर, जहाँ उसमें हवा प्रवेश करती है, लगभग आधा इंच की दूरी पर एक झिरी कटी रहती है।

इस झिरी की पतली धार वायु के वेगपूर्ण आघात के कारण कम्पन करने लगती है। इसकी निरन्तर कम्पन ही बाँसुरी के अन्दर की वायु में कम्पन उत्पन्न करके सुरीली ध्वनि की लहरें उत्पन्न करती है। वस्तुतः नली की लम्बाई पर उसके अन्दर की वायु में उत्पन्न हुई ध्वनि-लहरों की कम्पन-गति और लहर-लम्बाई निर्भर करती है। फिर ध्वनि की तीक्ष्णता तथा कोमलता भी उसकी कम्पन-गति तथा लहर-लम्बाई पर ही आश्रित होती है। कम्पन-गति यदि प्रति सेकण्ड अधिक हुई तो उसकी लहर-लम्बाई उसी अनुपात में कम हो जाती है (देखो पृष्ठ २२८२), और स्वर की तीक्ष्णता बढ़ जाती है। बाँसुरी की कम्पित वायु की लम्बाई को कम-अधिक करने के लिए उसमें कई सूराख़ बने रहते हैं। आरम्भ के सूराख़ों को बन्द करके बाँसुरी की कम्पित वायु की लम्बाई बढ़ाई जा सकती है। ऐसा करने से बाँसुरी के स्वर की तीक्ष्णता कम हो जाती है, उससे अपेक्षाकृत कोमल स्वर निकलता है। इसके प्रतिकूल यदि सभी सूराख़ खोल दिये जाँय तो बाँसुरी में प्रवेशद्वार से प्रथम सूराख़ तक की ही वायु कम्पित होगी और उसका स्वर ऊँचा चढ़ जायगा। अतः इच्छानुसार इन सूराख़ों को बन्द करके या खोलकर भिन्न-भिन्न स्वर निकाले जा सकते हैं। कम्पित वायु की लम्बाई आधी करने से स्वर दूना ऊँचा चढ़ जाता है, और तिहाई करने से तीन गुना ऊँचा।

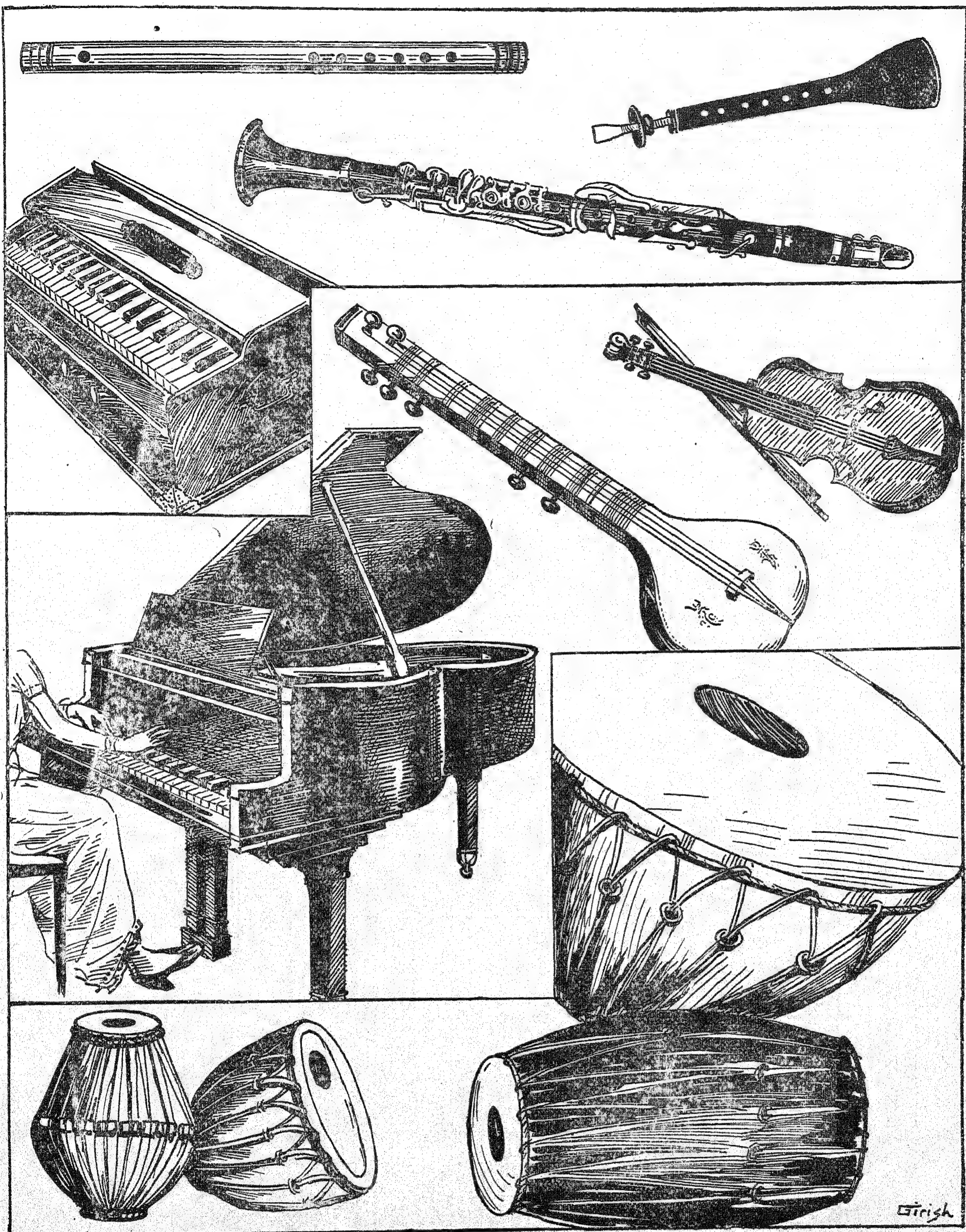
पाश्चात्य देशों के वाद्ययंत्रों में 'ऑर्गन' नामक यंत्र को एक प्रमुख स्थान प्राप्त है। एक बड़े आकार के 'ऑर्गन' में बाँसुरी के सिद्धान्त पर कई हज़ार छोटी-बड़ी नलियाँ लगी रहती हैं। इन नलियों में हवा फूँकने के लिए हारमोनियम की भाँति 'भाथी' (Bellows) लगी रहती है। विभिन्न 'वाल्वों' की सहायता से संगीतज्ञ चाहे जिस ऑर्गन-नली में बारी-बारी से वायु को वेग के साथ भेज सकता है। अमेरिका के अटलान्टिक नगर में संसार का सबसे बड़ा ऑर्गन है—इस विशालकाय वाद्ययंत्र में ३२८८२ नलिकाएँ लगी हुई हैं। इसकी भाथी में हवा आने के लिए ४०० अश्वबल के विद्युत् मोटर काम में लाये जाते हैं।

वायुजनित स्वरयंत्रों की एक और जाति होती है—इनमें वायु की कम्पन को जारी रखने के लिए यंत्र के मुँह पर नरकुल की या पीतल की पत्ती लगी रहती है। शहनाई के अलगोजे के मुँह पर ऐसी ही नरकुल की पत्ती लगी आपने देखी होगी—मुँह से फूँकने पर इन पत्तियों पर निरन्तर कम्पन होता हैं, फलस्वरूप अलगोजे के अन्दर की वायु कम्पित होकर ध्वनि उत्पन्न करती है। हारमोनियम में भी 'भाथी' में से हवा 'रीड' की पतली-सी झिरी में से होकर ऊपर निकलते ही पीतल की पत्ती में कम्पन उत्पन्न करती है—इसी कम्पन से हमें ध्वनि मिलती है। पत्ती के कम्पन से हारमोनियम के बक्स की हवा में कम्पन उत्पन्न होती है। क़तार में लगी हुई इन पत्तियों में से प्रत्येक पत्ती की स्वाभाविक कम्पन-गति नियत होती है, अतः प्रत्येक पत्ती एक नियत स्वर ही उत्पन्न कर सकती है। इसी कारण से ऊँचे दर्जे के संगीतज्ञ हारमोनियम को सितार आदि की अपेक्षा एक निम्न कोटि का वाद्ययन्त्र मानते हैं।

अब हम रज्जुकम्पित वाद्ययन्त्रों पर आते हैं। मेज़ पर दो कीलें गाड़कर पीतल का एक तार इनके बीच बाँध



बाँसुरी के स्वर की तीक्ष्णता या कोमलता कंपित वायु की लहर-लम्बाई पर आश्रित होती है और उस लहर-लम्बाई को कम-अधिक करने के लिए बाँसुरी की नली में कई सूराख़ बने रहते हैं, जिन्हें इच्छानुसार बंद करके या खोलकर भिन्न-भिन्न उतार-चढ़ाव के स्वर निकाले जा सकते हैं। प्रस्तुत चित्र में 'अ' में उस अवस्था की लहर-लंबाई प्रदर्शित है जब झिरी के अलावा सब छिद्र बंद करके धीरे से बाँसुरी बजाई जाय—इस दशा में सप्तक का सबसे मंद स्वर उत्पन्न होगा ; आख़िरी छिद्र खोलकर शेष को बंद किए रहने की अवस्था में भीतर की लहर लंबाई कम हो जाने के कारण पहले से अधिक तीव्र स्वर सुनाई देगा (देखो 'ब') ; और सभी छिद्रों को बंद करके ज़ोर से बजाने की दशा में सप्तक का उच्चतम स्वर सुनाई पड़ेगा (देखो 'स')।

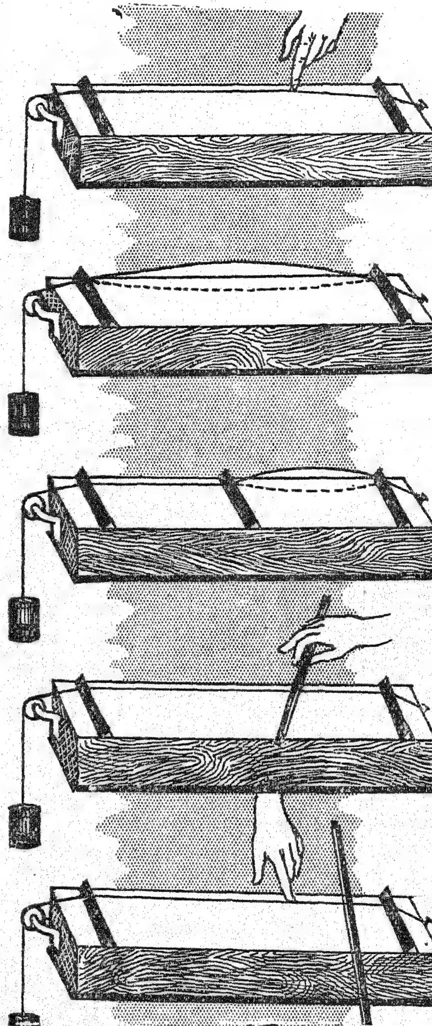


तीन प्रकार के वाद्ययंत्र

१. वायु द्वारा परिचालित यंत्र, जैसे बाँसुरी, शहनाई, क्लेरिओनेट, हारमोनियम आदि (दे० चित्र का शीर्षभाग); २. रज्जु-निर्मित यंत्र, जैसे बेला, सितार, पियानो आदि (दे० चित्र का मध्यभाग); ३. चमड़े से मढ़े जानेवाले यंत्र, जैसे नगाड़ा, ढोलक, तबला आदि (दे० चित्र का निचला भाग)।

दीजिए। सितार की तरह तार को उँगली से बजाइए—तुरन्त ही मीठा स्वर सुनाई पड़ेगा। अब तार को ज़रा और कस दीजिए, फ़ौरन ही इसका स्वर ऊँचा चढ़ जायगा। यदि तार की लम्बाई कम की जाय, तो भी इसका स्वर ऊँचा चढ़ता है। तार यदि मोटा लिया जाय, तो इसका स्वर भी अपेक्षाकृत मोटा हो जाता है। बाँसुरी की भाँति तार की लम्बाई आधी होने पर स्वर दूना ऊँचा हो जाता है और लम्बाई के तिहाई होने पर स्वर तीन गुना ऊँचा चढ़ जाता है।

बेला, सितार, सारंगी आदि इसी सिद्धान्त के आधार पर हमें मीठे स्वर सुनाते हैं। निश्चय ही अब आपकी समझ में आ गया होगा कि क्यों साज़ मिलाने के लिए संगीतज्ञ सारंगी की खूँटियों को कसता और ढीला करता है। विभिन्न स्वर उत्पन्न करने के निमित्त ही सारंगी के तार विभिन्न धातुओं के बने होते हैं और कुछ रज्जु तो निरे ताँत के बने होते हैं। रज्जु-वाद्ययंत्रों को भी हम दो श्रेणी में रख सकते हैं—एक सारंगी और बेले की जाति के यंत्र, जो धन्वा से विकम्पित किए जाते हैं और दूसरे सितार तथा तानपूरा की जाति के, जो अँगुली के स्पर्श से विकम्पित किए जाते हैं। इनके अतिरिक्त रज्जु-यंत्रों की एक तृतीय जाति में पियानो नामक यंत्र है—इसके रज्जुओं में कम्पन उत्पन्न करने के लिए नन्हीं-नन्हीं मुँगरियों से इन रज्जुओं पर आघात किया जाता है। अवश्य ही इन अगणित मुँगरियों का परिचालन यांत्रिक



तन्तु-वाद्यों का सिद्धान्त

चित्र में प्रदर्शित यंत्र में लकड़ी के एक खोखले बक्स पर दो स्तंभों पर एक कसा हुआ तार लगा है, जो सिरे के चित्र की भाँति उँगली द्वारा छेड़ने पर उसी प्रकार सारा का सारा झंकृत हो उठता है जैसा कि उसके बाद के दूसरे चित्र में दिग्दर्शित है। यदि दोनों स्तंभों के ठीक मध्य में एक और स्तंभ लगा दिया जाय तो केवल आधा ही तार झंकृत होगा जैसा कि तीसरे चित्र में प्रदर्शित है। यदि उँगली के बजाय धन्वा से तार को छेड़ा जाय तब भी दोनों स्तंभों के बीच वह उसी तरह झंकृत होगा और ऐसा करते समय यदि बीच में उँगली द्वारा तार छू लिया जाय तो वह छूने की जगह से नीचे की ओर ही कंपित होगा, शेष भाग में नहीं।

साधनों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक रज्जु-यंत्र एक लकड़ी के बक्स या ढाँचे पर आरूढ़ किया गया होता है। इसका कारण यह है कि अकेले रज्जु के कम्पन से इतनी शक्ति नहीं उत्पन्न होती कि ढेर-सी वायु उसके ज़ोर से कम्पित होकर इतनी ज़ोर की आवाज़ पैदा करे कि हम उसे आसानी के साथ सुन सकें। बेला में चार रज्जु एक सिरे से दूसरे सिरे तक चढ़े रहते हैं। यद्यपि ये रज्जु लम्बाई में लगभग बराबर ही होते हैं, पर मुटाई में ये भिन्न होते हैं। प्रथम रज्जु सबसे पतला, द्वितीय उससे मोटा, तृतीय उससे अधिक मोटा तथा चौथा सबसे अधिक मोटा होता है। चौथे का वज़न बढ़ाने के लिए उस पर चाँदी या 'निकल' का मुलम्मा चढ़ा देते हैं, या कभी-कभी चौथे रज्जु के स्थान पर चाँदी या ताँबे का तार काम में लाते हैं। खूँटियों द्वारा इनके तनाव को घटा-बढ़ाकर इनके स्वर को घटा-बढ़ा सकते हैं। फिर संगीतज्ञ अपनी उँगलियों से रज्जुओं को दबाकर उनकी कम्पित लम्बाई को घटा-बढ़ाकर उनसे उत्पन्न हुए स्वर को इच्छानुसार नीचा-ऊँचा करता रहता है।

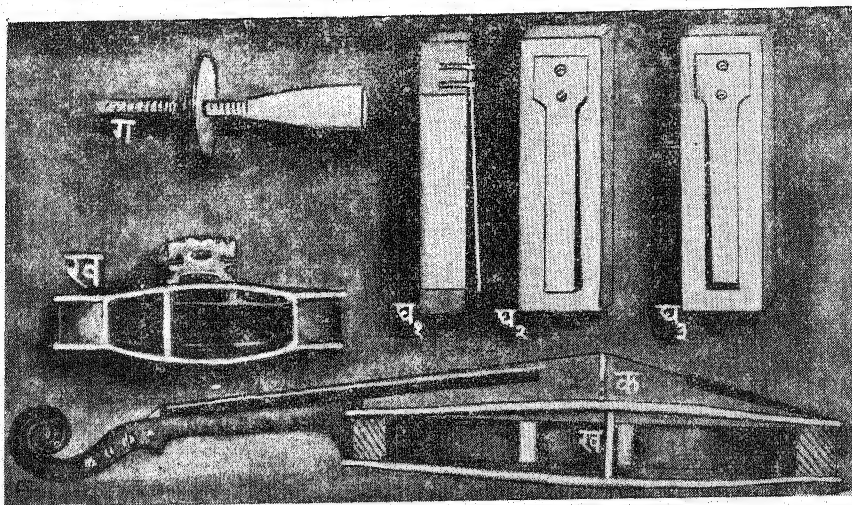
बेले का पेंदा मज़बूत किन्तु हलकी लकड़ी के बक्स का बना होता है। इस पेंदे के ऊपरी धरातल पर चारों रज्जु आड़े स्तम्भ के सहारे टिके होते हैं। इन रज्जुओं का तनाव इतना अधिक होता है कि यदि बक्स के अन्दर 'ध्वनि-स्तम्भ' (पृ० २३७८ का चित्र) का सहारा मौजूद न हो तो बक्स का उपरी धरातल टूट जाय। बेला

के रज्जुओं को विकम्पित करने के लिए घोड़े के बालों से बनाई गई धन्वा का प्रयोग किया जाता है। धन्वा की डोर पर 'रेज़िन' रगड़ लेते हैं। ऐसा करने से डोर के रेशे खड़े हो जाते हैं और बेले के रज्जुओं को आसानी के साथ अपनी पकड़ में ले आते हैं। बेले के रज्जु आड़ी कम्पन करते हैं। इनकी कम्पन ऊपरी स्तम्भ में कम्पन उत्पन्न करती हैं। फिर यह कम्पन ध्वनि-स्तम्भ के सहारे नीचे पहुँचकर बक्स की वायु को विकम्पित करती हैं। बक्स में कटे हुए सूराख़ों के रास्ते यह कम्पन बाहर की वायु में पहुँचकर चारों ओर बेले की सुरीली ध्वनि फैलाती है। बक्स के अन्दर लगे हुए 'ध्वनि-स्तम्भ' को बेले की जान कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। बेले की धन्वा के लिए बड़ी साव-धानी के साथ घोड़े के बाल चुने जाते हैं—एक धन्वा में करीब २०० बाल लगते हैं। रेज़िन लग जाने पर धन्वा के नन्हें-नन्हें रेशे जब उठ जाते हैं तो यह वास्तव में एक नन्हीं-सी आरी जैसा काम देती है। धन्वा की पकड़ की इस विशेषता के ही कारण बेले की ध्वनि देर तक खिंचती चली जाती है।

इसराज में भी धातु के चार मुख्य तार लगे होते हैं। बेले की अपेक्षा इसका आकार लम्बा होता है। ऊपर सिरे पर लगी हुई खूँटियों की सहायता से तार का खिंचाव घटा-बढ़ाकर उनका स्वर साधते हैं। इसके ढाँचे की रीढ़ पर लोहे की लगभग १५ आड़ी ती-लियाँ लगी रहती हैं। संगीतज्ञ धन्वा से इसराज बजाते समय अपनी उँगलियों को नचाकर इन्हीं तीलियों पर इच्छानुसार तार को दबाता है, जिससे तार के स्वर बद-लते रहते हैं। इसराज में १५ अतिरिक्त तार भी विभिन्न लम्बाइयों के लगे रहते हैं—ये स्तम्भ के निचले भाग में बने सूराखों में से होकर गुजरते हैं। मुख्य तार के बजने पर उनके स्वर के प्रभाव से अतिरिक्त तारों में से कुछ तार स्वयं झंकृत हो उठते हैं। अतः इसराज की ध्वनि मीठी और गूँजती हुई निकलती है।



वाद्ययंत्रों के क्षेत्र में सबसे विशाल साथ ही सबसे पेचीदा यंत्र 'ऑर्गन' होता है, जिसके भीतर विभिन्न स्वरों के उत्पादन के लिए हज़ारों बाँसुरी जैसी नलिकाएँ लगी रहती हैं। प्रस्तुत चित्र में लंदन के अल्बर्ट हॉल के विशाल ऑर्गन का भीतरी दृश्य है, जिसमें १०,४६१ ऐसी नलियों का जमघट है!



अलगोज़े, शहनाई, क्लेरिओनेट, आदि वायुजनित वाद्ययंत्रों में यंत्र के मुँह पर नरकुल या बाँस की एक पतली पत्ती लगी रहती है, जो मुँह से वेगपूर्वक बजाने पर थरथराती है और फलतः इन यंत्रों की नली में की हवा में कंपन उत्पन्न कर देती है। प्रस्तुत चित्र में 'ग' ऐसी ही पत्ती से युक्त एक शहनाई का मुखभाग है। इसी सिद्धान्त पर हारमोनियम में अलग-अलग स्वर के लिए ऐसी झिरियों से युक्त कई 'रीड' लगी रहती हैं, जिनके ऊपर एक पतली पीतल की पत्ती चिपकी हुई लगी रहती है। जब भाथी के द्वारा परिचालित होकर वायु इस पत्ती पर ज़ोर मारती है तो यह कंपन करती हुई उठ जाती है (दे० घ १ और घ २), और जब हवा निकल चुकी होती है तो उसके पिछले दबाव के कारण वह पुनः अपने गट्टे पर चिपक जाती है (दे० घ ३)। इस तरह अलगोज़े के सिद्धान्त पर ही हारमोनियम के भी विभिन्न स्वर उत्पन्न किए जाते हैं। चित्र के निचले हिस्से में एक मानचित्र द्वारा वायलिन की आंतरिक रचना प्रदर्शित है। 'क' बेले का वह स्तंभ है, जिस पर तार टिके रहते हैं और 'ख' उसके ढाँचे के नीचे लगा हुआ 'ध्वनि-स्तंभ' है, जिसकी रचना और भी स्पष्ट रूप से अलग से समझाई गई है।

पहुँचने के बाद तार को शीघ्र ही शान्त करने के लिए उससे नमदे की एक गद्दी आ लगती है, जिससे तार की ध्वनि बन्द हो जाती है।

ढोल के चमड़े पर एक ओर हाथ से थपकी लगाने पर उसमें जो कम्पन पैदा होती है वह हवा को विकम्पित करती हुई दूसरी ओर के चमड़े पर पहुँचती है; इस प्रकार दोनों ओर के मढ़े हुए चमड़े के पर्दे एक दूसरे को कम्पन करने में सहायता पहुँचाते हैं और उनसे एक थरथराती-सी आवाज़ उत्पन्न होती है। ढोल की डोरियों को कसने से ढोल की ध्वनि का स्वर ऊँचा चढ़ाया जा सकता है।

तबला भी ढोल की जाति का ही एक वाद्य-यंत्र है, किन्तु ढोल की अपेक्षा भारतीय संगीत के क्षेत्र में तबले को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है, क्योंकि उससे नियत तालयुक्त स्वर निकाले जा सकते हैं। ढोल में ऐसा गुण नहीं है, इसी कारण चमड़े से मढ़े हुए वाद्ययंत्रों में सबसे अधिक सफलतापूर्वक अकेला तबला ही गाने को सँभाल सकता है। तबले में एक ही ओर चमड़ा चढ़ा रहता है और चमड़े के पर्दे के केन्द्र पर लौहचूर्ण की एक तह गोंद की सहायता से जमा दी जाती है। तबले का स्वर-गुण इसी लौहचूर्ण की तह के कारण है। तबले के पर्दे में खिंचाव बढ़ाने के लिए बगल के चमड़े के तस्मों को उनमें फँसे हुए लकड़ी के गट्टों की सहायता से तान सकने का भी प्रबन्ध रहता है। तबला मानों सेनानायक की तरह परेड करते हुए सैनिकों को क़दम मिलाने के लिए 'लेफ़्ट' - 'राइट' का ताल देता रहता है!

तानपूरा में धातु के चार तार लगे होते हैं जो उँगलियों से आघात पहुँचाकर बजाए जाते हैं। तानपूरा में इसराज की तरह लोहे की आड़ी तीलियाँ नहीं होतीं। इसके अनुस्वारमय स्वर को आपने अवश्य ही सुना होगा। जिस स्तम्भ पर इसके तार टिकते हैं, उसकी धार बेले या इसराज के स्तम्भ की भाँति सीधी और पतली नहीं होती, बल्कि चिपटी और ढालुवाँ होती है, जिससे तार कुछ दूर तक इसे छूते हुए इस पर टिके रहते हैं। तार के झंकृत होने पर इसी कारण उसका स्वर अनुस्वार लिये हुए निकलता है।

पियानो में एक बड़े आकार के लकड़ी के बक्स में खींचकर ताने गए बहुत-से तार लगे रहते हैं। इन तारों को झंकृत करने के लिए प्रत्येक पर नमदा चढ़ी हुई एक-एक नन्हीं-नन्हीं मुँगरी से आघात पहुँचाया जाता है। आघात



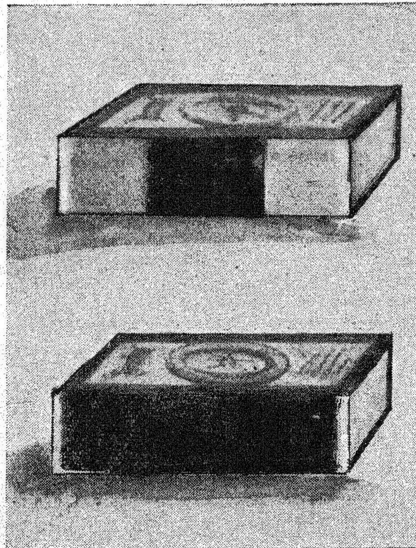
फ़ास्फ़रस
एक उपयोगी और मनोरंजक तत्त्व की कहानी

डिबिया की बग़लवाली कत्थई पट्टी पर रगड़ते ही दियासलाई फुरफुराती हुई जल उठती है—क्यों ? 'विश्व-भारती' के प्रथम अंक में ही एक चित्र के नीचे यह प्रश्न पूछा जा चुका है, तथापि हमारे बहुतेरे पाठक कदाचित् अब भी इसका उत्तर न दे सकेंगे। इस प्रश्न का उत्तर आपको इस लेख में मिलेगा।

दियासलाई के सिरे में आग लगा देनेवाला पदार्थ एक रासायनिक तत्त्व—फ़ास्फ़रस—होता है, जिसका लाल रूपान्तर पिसे हुए शीशे और सरेस से मिला हुआ डिबिया के पार्श्वों पर पुता रहता है। गंधक और कार्बन की भाँति फ़ास्फ़रस भी बहुरूपिया होता है और कई रंगबिरंगे—सफ़ेद, लाल, सिन्दूरवर्ण, काले—रूपान्तरों में परिणत किया जा सकता है। इनमें सफ़ेद और लाल रूपान्तर सबसे उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं। लाल फ़ास्फ़रस दियासलाई बनाने में और सफ़ेद आधुनिक युद्धों में आग लगानेवाले बमों को बनाने तथा धूम्र-पटों के उत्पादन आदि में व्यवहृत होता है।

दो प्रधान रूप

एक ही तत्त्व के रूपान्तर होते हुए भी सफ़ेद और लाल फ़ास्फ़रस के गुणों—विशेषतः भौतिक गुणों—में महान् अंतर होता है। यदि आप पहले ही से परिचित नहीं हैं, तो आपको दोनों रूपों को देखकर यह सरलता से विश्वास ही न होगा कि वे दोनों एक ही वस्तु हैं। एक सफ़ेद छड़ों के रूप में पानी में डूबा हुआ तो दूसरा साधारण प्रकार से रक्तवर्ण चूर्ण के रूप में बोतल में रक्खा होता है। सफ़ेद फ़ास्फ़रस हवा के संसर्ग में आते ही सफ़ेद धुआँ देते हुए सुलगने अर्थात् ऑक्सिजन से संयुक्त होकर 'फ़ास्फ़रस पेण्टॉक्साइड' (P_2O_5) में परिणत होने लगता है। यदि हवा ठंडी न हुई तो वह हवा में रखने से जल उठता है। हमारे शरीर की गर्मी उसे प्रज्वलित करने के लिए पर्याप्त होती है, अतएव सफ़ेद फ़ास्फ़रस को भूलकर भी छूना अथवा शरीर या कपड़ों पर न लगने देना चाहिए। हमारे शरीर का सामान्य तापक्रम ९८·४° F (३६·९° C) होता है, किंतु सफ़ेद फ़ास्फ़रस ९३·२° F (३४° C) पर पहुँचते ही जल उठता है। जलते हुए फ़ास्फ़रस द्वारा होनेवाले घाव बड़े ही दुःखदायी होते हैं और जल्दी अच्छे नहीं होते। यदि आपको सफ़ेद फ़ास्फ़रस का एक छोटा-सा टुकड़ा किसी प्रयोग के लिए निकालना हो तो चिमटी द्वारा उसकी एक छड़ निकालकर एक चीनी के प्याले में पानी में डुबाकर रख लीजिए और फिर चाक़ू से उस टुकड़े को पानी के अंदर ही काट लीजिए। उसका मटर के बराबर एक टुकड़ा किसी भी साधारण प्रयोग के लिए पर्याप्त होगा। आप देखेंगे कि फ़ास्फ़रस मोम-सरीखा एक नरम अर्द्धपारदर्शक पदार्थ होता है। शुद्ध और ताज़ा फ़ास्फ़रस श्वेत होता है, किंतु कुछ समय तक रखने पर वह प्रकाश के प्रभाव से कुछ-कुछ पीला हो जाता है।



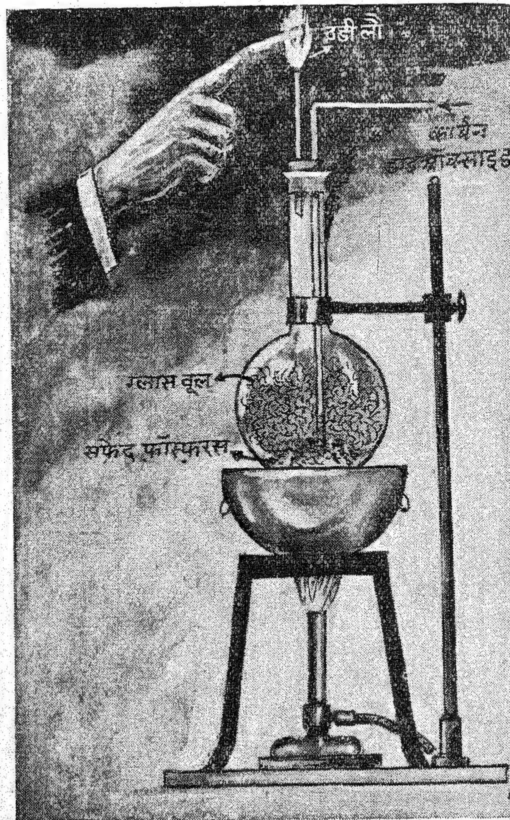
आजकल युद्ध में फ़ास्फ़रस की इतनी अधिक माँग है कि उसकी बचत के लिए दियासलाई की डिबिया की पट्टी को छोटा कर देना आवश्यक हो गया है (दे० ऊपरवाली डिबिया)।

इसीलिए उसे बहुधा पीला फ़ास्फ़रस कहते हैं। यदि आपको फ़ास्फ़रस जलाकर देखना हो तो उसके टुकड़े को चिमटी द्वारा पानी से निकालिए और सोख़ते पर रखकर सुखा लीजिए। फिर उसे चीनी की प्याली अथवा टाइल पर रखकर एक गर्म तार की नोक से छू दीजिए।

सफ़ेद फ़ास्फ़रस में लहसुन की-सी एक हलकी गंध होती है। यह गंध वास्तव में फ़ास्फ़रस ट्राइऑक्साइड की होती है, जो मंद ऑक्सीकरण द्वारा बनती रहती है। सफ़ेद फ़ास्फ़रस और फ़ास्फ़रस ट्राइऑक्साइड दोनों बहुत ही विषाक्त पदार्थ हैं, जिनकी थोड़ी-सी ही मात्रा प्राणघातक होती है।

सफ़ेद फ़ास्फ़रस पानी में अघुलनशील, परन्तु कुछ कार्बनिक द्रवों यथा कार्बन डाइसल्फ़ाइड, बेञ्ज़ीन, क्लोरोफ़ार्म आदि में घुलनशील होता है। कार्बन डाइसल्फ़ाइड में वह सबसे अधिक सरलता से घुलता है। कार्बन डाइसल्फ़ाइड में बने हुए घोल को यदि एक सोख़ता अथवा छन्ना कागज़ के टुकड़े पर छोड़ दिया जाय तो कार्बन डाइसल्फ़ाइड के वाष्पशील होने के कारण वह शीघ्र ही सूख जाता है और फ़ास्फ़रस के नन्हें रवों से भिदा हुआ वह काग़ज़ स्वतः जल उठता है। न जाननेवालों के सामने यह प्रयोग रासायनिक जादू के रूप में दिखाया जा सकता है। इस बात का ध्यान सदैव रखना चाहिए कि यह घोल शरीर अथवा कपड़ों पर कदापि न लग सके।

सफ़ेद फ़ास्फ़रस अँधेरे में हवा में खुला हुआ रखने पर हलके हरे प्रकाश के साथ चमकता है। यह प्रकाश इसके मंद ऑक्सीकरण के कारण उत्पन्न होता है। इसी चमक के कारण इस तत्त्व का नाम फ़ास्फ़रस पड़ा। यूनानी भाषा में 'फ़ॉस' का अर्थ प्रकाश और 'फ़रस' का अर्थ वाहक होता है, अतएव फ़ास्फ़रस का अर्थ हुआ 'प्रकाश-वाहक'। फ़ास्फ़रस का यह प्रकाश जुगनू की चमक की भाँति ठंढा होता है। यह ठंढा प्रकाश "ठंढी लौ" के मनोरंजक प्रयोग द्वारा प्रयोगशाला में प्रदर्शित किया जा सकता है। एक फ्लास्क में सफ़ेद फ़ास्फ़रस के कुछ टुकड़े लेकर उसमें काँच के रेशे (ग्लास-वूल) भर दीजिए और फ्लास्क को जलकुंडी के ऊपर गर्म करके उसमें कार्बन डाइऑक्साइड गैस प्रवाहित कीजिए। इस गैस के साथ निकलता हुआ फ़ास्फ़रस-वाष्प हवा द्वारा ऑक्सीकृत होकर अँधेरे में एक हरी लौ के रूप में दिखाई देगा। यह लौ न आपकी उँगली को गर्म प्रतीत होगी और न उसमें रखने से दियासलाई ही जलेगी(दे० बग़ल का चित्र)!



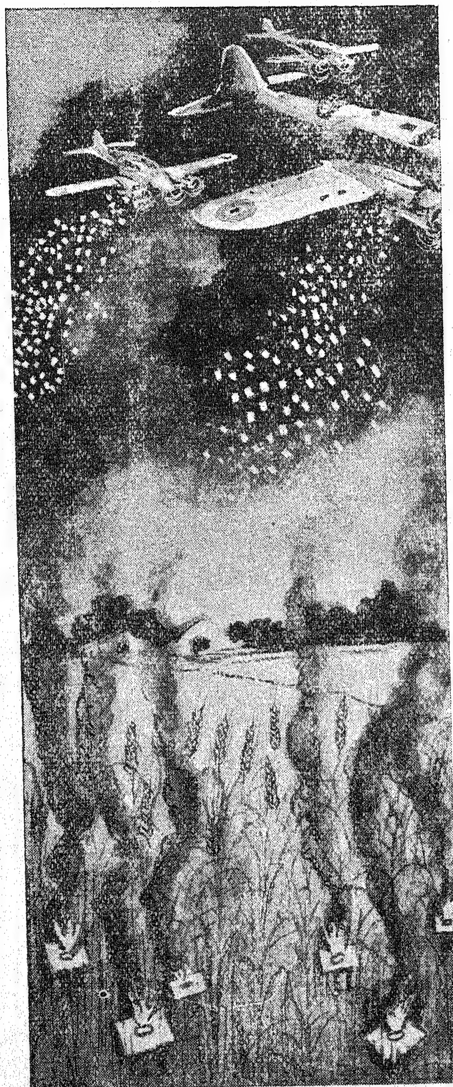
फ़ास्फ़रस की 'ठंडी लौ'

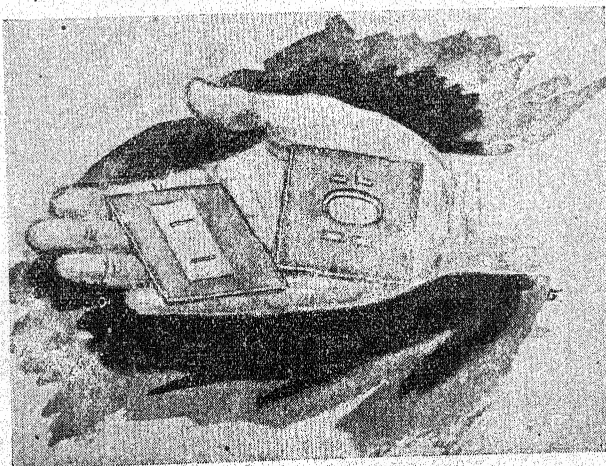
सफ़ेद फ़ास्फ़रस 44°C पर पिघल जाता है। एक परीक्षा-नली में थोड़ा-सा पानी लेकर उसमें सफ़ेद फ़ास्फ़रस का एक टुकड़ा छोड़ दीजिए। पानी से दुगने से कुछ ही कम भारी होने के कारण वह नीचे बैठ जायगा। अब उसे गर्म कीजिए। पानी के कुनकुना होते ही वह पिघल जायगा। हवा (ऑक्सिजन) की अनुपस्थिति में २८७°C तक गर्म करने पर वह उबलने लगता है।

सफ़ेद फ़ास्फ़रस इस तत्त्व का स्थायी रूप नहीं होता। साधारण दशाओं में भी उसकी प्रवृत्ति लाल रूपान्तर में बदलते रहने की होती है। ताप अथवा प्रकाश के प्रभाव से उसकी यह परिवर्त्तन-गति बढ़ जाती है, यहाँ तक कि उसे २३०°C और २५०°C के बीच तक गर्म करने पर वह शीघ्रता तथा सुविधा के साथ अपने लाल रूपान्तर में परिणत हो जाता है। दियासलाई बनाने के लिए इस लाल रूपान्तर की बड़े परिमाणों में आवश्यकता होती है,

अतएव यह परिवर्त्तन पृष्ठ २३८२के चित्र में प्रदर्शित विधि से कर लिया जाता है। एक लोहे के बंद पात्र में लगभग १ टन सफ़ेद फ़ास्फ़रस गर्म किया जाता है। इस पात्र के ढक्कन में दो लोहे की नलियाँ लगी होती हैं और फ़ास्फ़रस के आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए इन नलियों में दो थर्मामीटर लगे रहते हैं। ताप का नियंत्रण इस प्रकार किया जाता है कि तापक्रम लगभग २४०°C रहे। फ़ास्फ़रस के सफ़ेद से लाल रूप में परिवर्त्तित होने से ताप का उद्‌भव होता है और यदि घटनावश तापक्रम २६०°C हो जाय तो यह परिवर्त्तन और फलतः ताप का उत्पादन इतनी तीव्र गति से होगा कि सारा का सारा फ़ास्फ़रस वाष्पीभूत होकर लोहे के पात्र तथा भट्टी को विदीर्ण करके बाहर निकल जा सकता है। अतएव इस संभाव्य दुर्घटना के अवसर पर कारख़ानों और कार्यकर्त्ताओं की रक्षा के निमित्त पात्र के ढक्कन में एक लंबा लोहे का नल लगाकर उसके मुँह को एक अभय-वाल्व द्वारा ढक दिया जाता है। ऐसी दुर्घटना तापक्रम के नियंत्रण द्वारा यथासाध्य होती ही नहीं, लेकिन यदि हो भी जाय तो फ़ास्फ़रस का वाष्प अभय-वाल्व को धक्का देकर उसे खोल देता है और बाहर निकल जाता है। इस प्रकार बनाए हुए लाल फ़ास्फ़रस में तब भी कुछ न कुछ अपरिवर्त्तित सफ़ेद फ़ास्फ़रस रह जाता है। अतएव इस मिश्रण को कॉस्टिक सोडा के घोल के साथ उबाला जाता है। सफ़ेद फ़ास्फ़रस उसकी क्रिया द्वारा परिवर्त्तित होकर निकल जाता है और लाल फ़ास्फ़रस, जिस पर कॉस्टिक सोडा की कोई क्रिया नहीं होती, शेष रह जाता है। उसे धोकर सुखा लिया जाता है।

लाल फ़ास्फ़रस को पानी में रखने की कोई आवश्यकता नहीं। न वह हवा में रखने से धुआँ ही देता है और न जलता ही है। अँधेरे में वह चमकता भी नहीं। उसे प्रज्वलित करने के लिए २६०°C तक गर्म करने की आवश्यकता होती है। उसमें न कोई गंध होती है और न वह विषाक्त ही होता है। वह कार्बन डाइसल्फ़ाइड में घुलता भी नहीं। हवा की अनुपस्थिति में २८०°C तक गर्म करने पर वह बिना जले ही वाष्पीभूत होकर सफ़ेद फ़ास्फ़रस के रूप में घनीभूत हो जाता है। सफ़ेद फ़ास्फ़रस से वह कुछ अधिक अर्थात् पानी से २·१ गुना भारी होता है।





(ऊपर) वायुयानों द्वारा युद्धक्षेत्र में आग लगानेवाले 'कालिंग कार्डों' की वर्षा। (नीचे) हथेली पर रक्खे हुए ऐसे ही दो कार्ड। गद्दी के प्रदर्शन के लिए एक कार्ड खुला हुआ दिखाया गया है।

दियासलाई

अब आप दियासलाई के जलने की क्रिया को समझ सकते हैं। आधुनिक दियासलाई (जिसे 'निरापद दियासलाई' या 'सेफ़्टी मेच' कहते हैं) का सिरा निम्न वस्तुओं के मिश्रण से बना होता है—

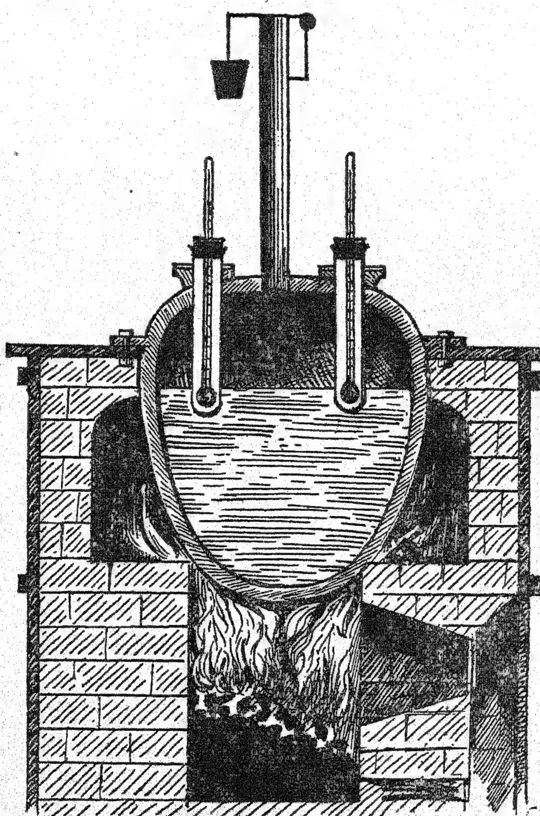
(१) जलनेवाला पदार्थ—ऐण्टिमनी सल्फाइड (Sb_2S_3)

(२) ऑक्सीकारक पदार्थ—पोटैशियम क्लोरेट(ClO_3) लेड पॉक्साइड (PbO_2), रेड लेड (Pb_3O_4), और पोटैशियम डाइक्रेमेट ($K_2Cr_2O_7$)

(३) खुरदरा पदार्थ—पिसा हुआ शीशा।

(४) चपकानेवाला पदार्थ गोंद।

इस सिरे को जब डिबिया के बग़लवाले पृष्ठ पर रगड़ते हैं तो इस रगड़ से तनिक-सा लाल फ़ास्फ़रस सफ़ेद रूप में परिणत होकर जल उठता है और दियासलाई के सिरे में आग लगा देता है। सिरे में रहनेवाला ऐण्टिमनी सल्फ़ाइड ऑक्सीकारी पदार्थों की ऑक्सिजन की सहायता से तीव्रता से जल उठता है, अर्थात् उसमें के ऐण्टिमनी और गंधक अपनी-अपनी ऑक्साइड में लौ के रूप में ताप का उत्पादन करते हुए बदल जाते हैं।



सफ़ेद फ़ास्फ़रस एक लोहे के पात्र में गर्म करके लाल रूपांतर में परिवर्तित किया जाता है। इसमें लगभग १ टन फ़ास्फ़रस एक बार में गर्म किया जाता है।

हमारे प्रौढ़ और वयोवृद्ध पाठकों ने उन पुरानी चाल की दियासलाइयों का भी व्यवहार किया या देखा होगा जो किसी भी खुरदरी सतह पर रगड़ देने से जल उठती थीं। उनकी डिबियों के बग़ल की पट्टी पर केवल एक सैण्ड-पेपर लगा रहता था। यदि मैं भूला नहीं हूँ तो वे अधिकतर नार्वे से बनकर आती थीं। उन दियासलाइयों (जिन्हें ल्यूसिफर दियासलाईयाँ कहते थे) का बनाना सन् १९१० से क़ानून द्वारा निषिद्ध कर दिया गया, लेकिन वे प्रायः १९२० तक व्यवहृत होती देखी गईं। उन पुरानी दियासलाइयों के सिरो में ऐण्टिमनी सल्फ़ाइड के स्थान में विषाक्त सफ़ेद फ़ास्फ़रस रहा करता था, जिसके कारण दियासलाई के कारख़ानों के मज़दूरों को जबड़े की हड्डियों के क्षय की बीमारी हो जाती थी। दूसरे, इस प्रकार की दियासलाइयों के किसी भी खुरदरी तह पर रगड़ जाने के कारण आग लगने की दुर्घटना भी हो सकती थी।

साधारणतः सफ़ेद फ़ास्फ़रस अपने ही रूप में या तो फ़ास्फ़र काँसा और फ़ास्फ़रस पेण्टॉक्साइड बनाने के काम में आता है या चूहों को मारने के लिए विष के रूप में प्रयुक्त होता है, अथवा प्रयोगशाला में रासायनिक प्रयोगों के प्रदर्शन में व्यवहृत होता है। फ़ास्फर काँसा ताँबे, राँगे और अल्पांशों में (०.२ – ४ प्रतिशत) फ़ास्फ़रस का मिश्रण होता है। फ़ास्फ़रस की उपस्थिति के कारण यह धातु-मिश्रण कठोर और दृढ़ हो जाता है और जल द्वारा उसका छादन नहीं होता। फ़ास्फ़रस पेण्टॉक्साइड सबसे प्रबल जल-ग्राहक पदार्थ होता है और गैसों को सुखाने या पानी के शोषण के निमित्त अधिकतर व्यवहृत होता है।

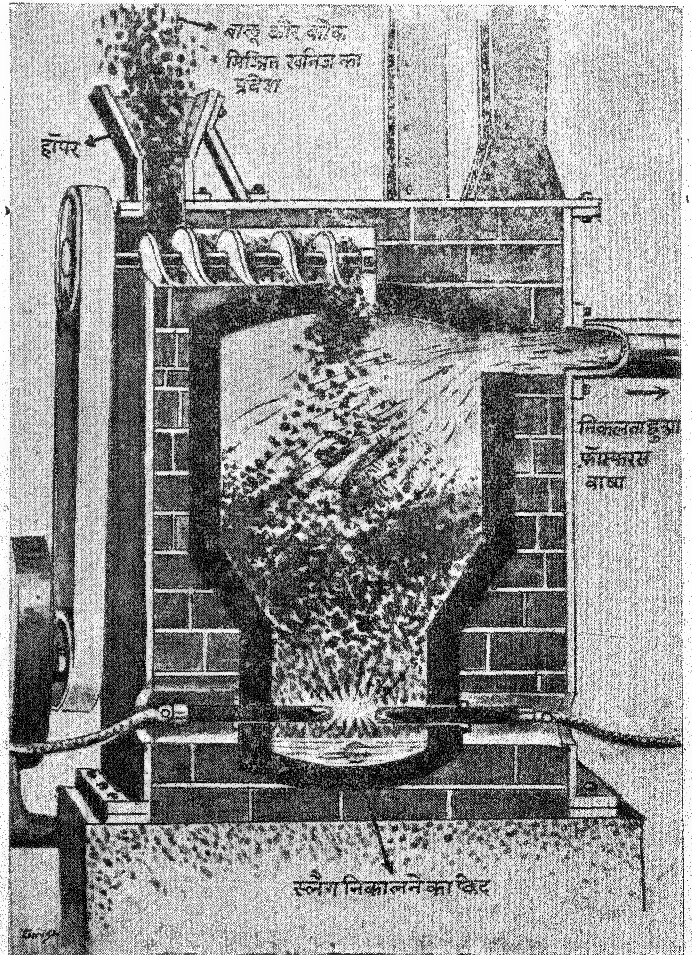
युद्ध में फ़ास्फ़रस

किन्तु आधुनिक महायुद्ध में सफ़ेद फ़ास्फ़रस का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। आपने वर्त्तमान महायुद्ध के समाचारों में आग लगानेवाले बमों के विषय में बहुधा पढ़ा होगा। इन बमों में भरा हुआ आग लगानेवाला पदार्थ सफ़ेद फ़ास्फ़रस ही होता है, जो बम के फटते ही छिटकता हुआ इधर-उधर गिरकर जलने लगता है और आग लगा देता है। बहुधा शत्रु-सेनाओं पर भी फ़ास्फ़रस के बम सिपाहियों को घायल करने के लिए फेंके जाते हैं। जलते हुए फ़ास्फ़रस के कण सिपाहियों के शरीर पर चिपट जाते हैं और उन्हें बुरी तरह घायल कर देते

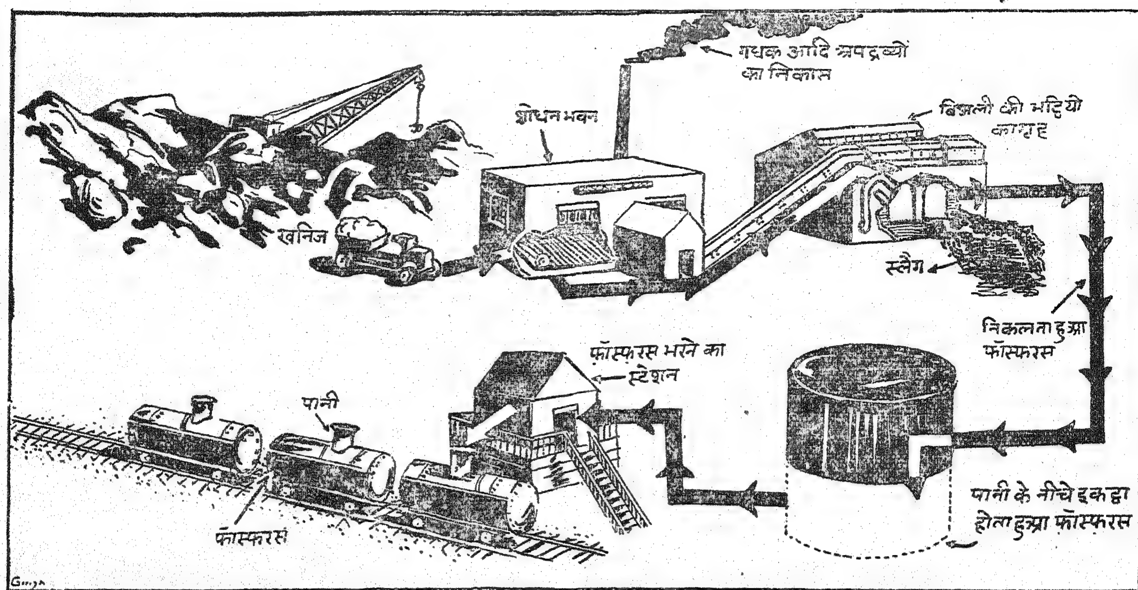
हैं। युद्ध के समाचारों में आपने धूम्र-पटों का भी उल्लेख बहुधा देखा होगा। सफ़ेद धूम्रपट प्रायः फ़ास्फ़रस को ही जलाकर उत्पन्न किया जाता हैं और उससे शत्रुओं की दृष्टि से सेना, जहाज़ आदि छिपा लिये जाते हैं। उन पटों का धुआँ फ़ास्फ़रस पेण्टॉक्साइड के कणों का बना होता है और लगभग दस मिनट तक फैला रहता है। ब्रिटिश सेना ने शत्रुओं की फ़सलों, जंगलों, आदि में आग लगाने के लिए एक प्रकार के कार्डों का उपयोग किया है जिन्हें "कालिंग कार्ड" कहते हैं। ये कार्ड तीन वर्ग इंच के आकार के होते है और उनके बीच में पानी से भीगी हुई एक छोटी-सी रुई की गद्दी लगी रहती है, जिसमें सफ़ेद फ़ास्फ़रस भिदा रहता है। ये कार्ड हवाई जहाज़ों से बरसा दिए जाते हैं। एक-एक हवाई जहाज़ ऐसे ढाई-ढाई लाख कार्डों को लेकर उड़ता है। उपर से छोड़ने के बाद प्रायः दस मिनट में ये कार्ड सूख जाते हैं, जिससे फास्फ़रस लगभग ८ इंच की लौ का उत्पादन करते हुए स्वतः जल उठता और फ़सल आदि को जलाकर भस्म कर देता है (दे० पृ० २३८१ का चित्र)। सेना की भाषा में सफ़ेद फ़ास्फ़रस को W. P. (ह्वाइट फ़ॉस्फ़रस का संक्षेप) कहा जाता है।

प्रकृति और फ़ास्फ़रस

हमारे पाठकों के मन में कदाचित् अब यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी कि इस तत्त्व का अस्तित्व प्रकृति में किस प्रकार और कहाँ होता है और वह किन वस्तुओं से और कैसे निकाला जा सकता है! संयोगशील होने के कारण फ़ास्फ़रस प्रकृति में स्वतंत्र रूप में नहीं रह सकता। संयुक्त रूप में वह प्राणियों तथा उद्भिजों के कलेवर—जीव-कोषों के तरल पदार्थ प्रोटोप्लाज़्म—का एक आवश्यक अंग होता है। प्राणि-शरीर में वह विशेषतः अस्थियों, मस्तिष्क और रुधिर में रहता है। हड्डियों में वह कैल्शियम फ़ास्फ़ेट के रूप में रहता है। कच्ची हड्डियों में ६० प्रतिशत तक और हड्डियों की राख में ८० प्रतिशत तक कैल्शियम फ़ास्फ़ेट मिलता है। प्रकृति में जीव और जड़ जगत् के बीच नाइट्रोजन-चक्र की भाँति एक फ़ास्फ़रस-चक्र भी चला करता है। प्राणियों को अपने शरीर के लिए आवश्यक फ़ास्फ़रस उद्भिजों अथवा जन्तुओं के मांस से मिलता है; उद्भिजों को वह मिट्टी से मिलता है, और इस मिट्टी में वह जीवावशेषों के रूप में लौट आता है। मिट्टी में कुछ फ़ास्फ़रस कैल्शियम फ़ास्फेट के रूप में फ़ास्फ़ेटयुक्त चट्टानों के जलवायु-संबंधी कारणों द्वारा घिसने से भी मिला करता है और कुछ कृत्रिम प्रयास द्वारा खनिज कैल्शियम फ़ास्फेट को कैल्शियम सुपर फ़ास्फ़ेट में परिणत करके मिला दिया जाता है (देखिए पृ० २१७८)। किसी राष्ट्र के स्वास्थ के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कृषि-संबंधी उपज स्वस्थ हो और स्वस्थ उपज के लिए मिट्टी में आवश्यक परिमाणों में फ़ास्फ़ेटों का रहना आवश्यक है। आवश्यक परिमाणों में ये फ़ास्फ़ेट मिट्टी में तभी रह सकते हैं जब इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि



हड्डी की राख अथवा खनिज कैल्शियम फ़ास्फ़ेट से फ़ास्फ़रस निकालने की भट्टी (विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ २३८४ का मैटर)



खदान से रेलवे स्टेशन तक की फ़ास्फ़रस की यात्रा

फ़सलों को उपजाने के बाद फ़ास्फेटों के अभाव की पूर्त्ति या तो हड्डियों की राख अथवा पिसी हुई हड्डियों को खेत में छितराकर या खनिज कैल्शियम फ़ास्फेट से बनाकर कैल्शियम सुपर फ़ास्फेट को खेत में मिलाकर कर दी जाय। यदि कोई देश इस अभाव की पूर्त्ति में असमर्थ होता है तो वह वास्तव में मृत अस्थियों को ही नहीं बल्कि अपने राष्ट्र की उतनी ही जीवित अस्थियों को ही खो बैठता है !

खनिज रूप में भी अधिकतर फ़ास्फ़रस कैल्शियम फ़ास्फेट के रूप में और कुछ फेरस फ़ास्फेट और अलुमीनियम फ़ास्फेट के रूप में मिलता है। इसके प्रमुख खनिज चार हैं—(१) फ़ास्फराइट, $Ca_3(PO_4)_2$; (२) क्लोरैपटाइट, $3Ca_3(PO_4)_2.CaCl_2$; (३) फ़्लोरैपटाइट, $_3Ca_3(PO_4)_2.CaF_2$; और (४) विवियनाइट, $Fe_3(PO_4)_2.H_2O$। पहले को छोड़कर अन्य तीनों खनिजों में फ़ास्फेट के साथ क्रमशः कैल्शियम क्लोराइड, कैल्शियम फ्लोराइड और पानी संयुक्त रूप में मिले रहते हैं। भारतवर्ष में बिहार, उड़ीसा, तथा कुछ अन्य स्थानों में अधिकतर क्लोरैपटाइट ही मिलता है।

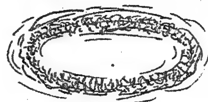
निर्माण

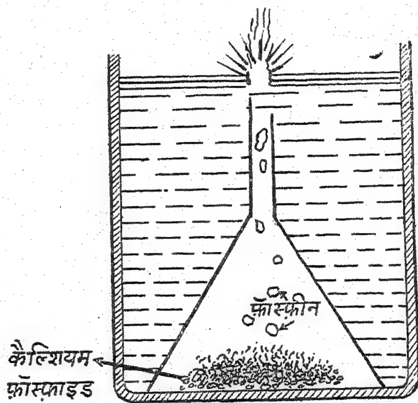
फ़ास्फ़रस अपने श्वेत रूप में हड्डियों की राख अथवा खनिज कैल्शियम फ़ास्फेट से निकाला जाता है। इसके लिए जिस बिजली की भट्ठी का उपयोग होता है, वह २३८३ पृ० पर प्रदर्शित है। महीन रेत और कोक से मिलाकर हड्डियों की राख अथवा शोधित खनिज फ़ास्फेट बिजली की भिट्ठी में एक घूमते हुए पेच द्वारा प्रविष्ट किया जाता है। यह मिश्रण कार्बन के विद्युत-शिरों के बीच में बनते हुए वैद्युत् 'आर्क' द्वारा गर्म होता है। इस ताप के कारण कैल्शियम फ़ास्फेट और रेत (सिलिकन डाइऑक्साइड) के बीच होनेवाली रासायनिक प्रतिक्रिया से कैल्शियम सिलिकेट और फ़ास्फ़रस पेण्टॉक्साइड उत्पन्न होने लगते हैं, किन्तु फ़ास्फ़रस पेण्टॉक्साइड तुरंत कोक के कार्बन की क्रिया द्वारा फ़ास्फ़रस में अवकृत हो जाता है। यह फ़ास्फ़रस बाष्प रूप में बाहर निकल जाता है और पानी के नीचे द्रवीभूत करके इकट्ठा कर लिया जाता है। कैल्शियम सिलिकेट गलकर भट्ठी की तह पर बैठ जाता है, जहाँ से वह बाहर निकाल लिया जाता है। रासायनिक निर्माण में इस प्रकार के गलकर निकल जानेवाले सिलिकेट आदि उपपदार्थों को 'स्लैग' कहते हैं।

यदि फ़ास्फ़रस पेण्टॉक्साइड बनाने की आवश्यकता हुई तो केवल खनिज और बालू का ही मिश्रण भट्ठी में छोड़ते है, कोक नहीं मिलाते। निकलते हुए फ़ास्फ़रस पेण्टॉक्साइड की बाष्प को घनीभूत कर लेते हैं, अथवा यदि फ़ास्फ़रिक ऐसिड की आवश्यकता हुई तो उसे गर्म पानी में शोषित कर लेते हैं। फ़ास्फ़रस कार्बन, गंधक आदि की भाँति एक अधातु होता है और ऑक्सीजन से मिलकर अम्लीय ऑक्साइडें बनाता है। फ़ास्फ़रस पेंटॉक्साइड

पानी में घुलकर फ़ास्फ़ोरिक अम्लों (यथा H_3PO_4) का उत्पादन करता है। इन्ही फ़ास्फ़ोरिक अम्लों के लवणों को फ़ास्फ़ेट कहते हैं। ये लवण फ़ास्फ़रिक ऐसिड पर क्षारों की क्रिया द्वारा बनाए जा सकते हैं।

खनिज की खुदाई से लेकर फ़ास्फ़रस के निर्यात तक की आधुनिकतम अमेरिकन प्रणाली पिछले पृष्ठ पर दिए गए चित्र में प्रदर्शित है। एक भीमकाय विद्युत्-संचालित क्रेन द्वारा खुदाई का काम होता है। उससे एक बड़ा भारी डोल लटकता रहता है, जो एक ही बार में १५,००० पौण्ड खनिज को काटकर अपने में भर लेता है। इस खनिज को क्रेन द्वारा उठाकर डोल से मोटर ट्रेलर में भर दिया जाता है। इस प्रकार यह खनिज, जिसे 'मैट्रिक्स' कहते हैं, शोधन-भवन में ले जाया जाता है। यहाँ पहले उसे ख़ूब धोकर बेकार मिट्टी, पत्थर आदि निकाल डाले जाते हैं, फिर उसमें कोक मिलाकर वह पीस डाला जाता है। यह मिश्रण एक आठ फ़ीट चौड़ी घूमती हुई अन्तहीन एकहरी जाली के सिरे पर छोड़ा जाता है और उसमें आग लगा दी जाती है। पंखों द्वारा ऊपर से इस जाली की ओर हवा आती रहती है, जिससे जाली के दूसरे सिरे तक पहुँचते-पहुँचते सारा कोयला जल जाता है और खनिज का वांछित शोधन हो जाता है अर्थात् उसके गंधक, फ्लोरिन, आदि अपद्रव्य निकल जाते हैं और वह सर्वथा शुष्क



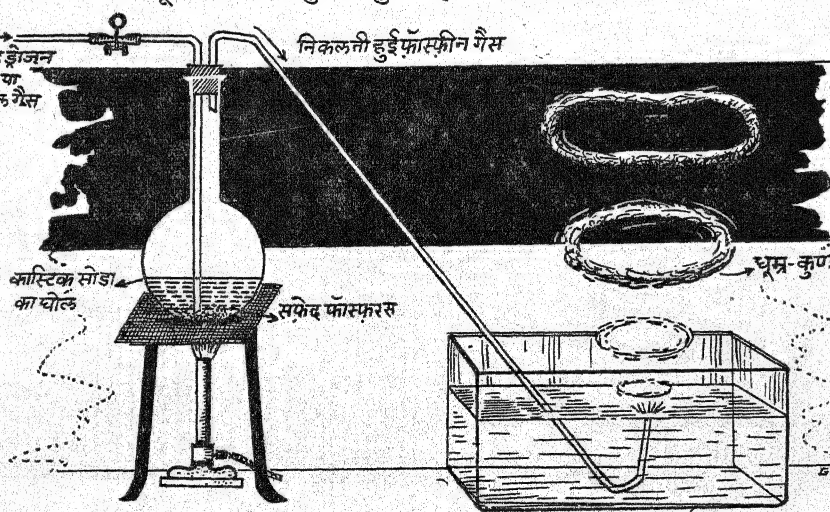


कैल्शियम फ़ास्फ़ाइड पर पानी की क्रिया द्वारा फ़ास्फ़ीन का उत्पादन।

और संसक्त हो जाता है। यहाँ से वह बिजली की भट्ठियों के गृह में पहुँचकर भट्ठियों में प्रविष्ट होता है। ये भट्ठियाँ उसी प्रकार की होती हैं जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। इस गृह में चार भट्ठियाँ एक क़तार में लगी होती हैं और एक-एक भट्ठी में १०,००० वोल्ट से भी अधिक बिजली का व्यय हुआ करता है। कार्बन मोनॉक्साइड-मिश्रित फ़ास्फ़रस इन वाष्प-भट्ठियों से निकलकर एक कंक्रीट के बने हुए हौज़ में पहुँचता है। इसमें फ़ास्फ़रस द्रवीभूत होकर पानी के नीचे और कार्बन मोनॉक्साइड गैस पानी के ऊपर इकट्ठा हो जाती है। एक-एक हौज़ में दस-दस लाख पौण्ड तक फ़ास्फ़रस इकट्ठा किया जा सकता है। इन हौज़ों से फ़ास्फ़रस पंपों द्वारा 'भरने की स्टेशन' तक पहुँचाया जाता है, जहाँ से वह ढोलों में पानी के नीचे भरकर यदि विदेश भेजना हुआ तो बंदरगाहों को अन्यथा अन्य निर्दिष्ट स्थानों में पहुँचा दिया जाता है (दे० पृ० २३८४ का चित्र)।

फ़ास्फ़रस से पृथक् होने के बाद कार्बन-मोनॉक्साइड गैस शोधन-भवन में ईंधन की भाँति काम में लाई जाती है। कार्बन-मोनॉक्साइड ऑक्सिजन से संयुक्त होकर कार्बन डाइऑक्साइड में परिवर्तित होती हुई जलती है।

फ़ास्फ़रस के रासायनिक यौगिक सैकड़ों हैं। कुछ महत्वपूर्ण यौगिकों का उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ। फ़ास्फ़रस

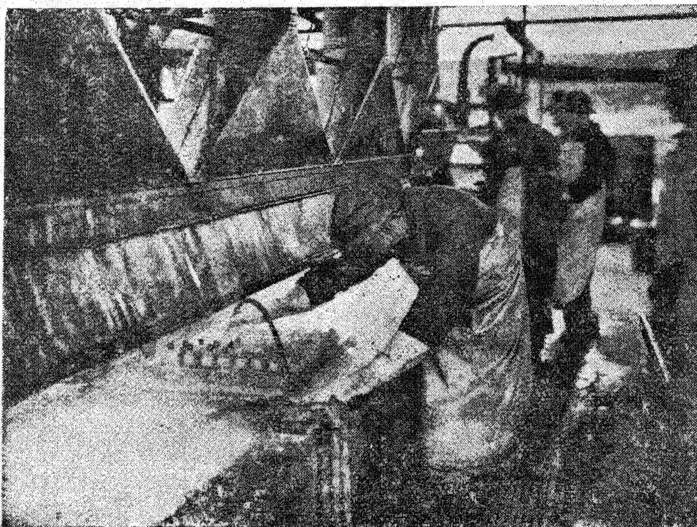


प्रयोगशाला में फ़ास्फ़ीन तैयार करने की सामान्य विधि

संयुक्त होने में अधिकतर दो संयोजन-शक्तियों को प्रदर्शित करता है—अर्थात् ३ और ५। पहली के अनुसार फ़ास्फ़रस ट्राइऑक्साइड (P_2O_3) फ़ास्फ़रस ट्राइक्लोराइड (PCl_3), फ़ास्फ़ीन (PH_3) आदि, और दूसरी के अनुसार फ़ास्फ़रस पेण्टॉक्साइड (P_2O_5), फ़ास्फ़रस पेण्टाक्लोराइड (PCl_5) आदि यौगिक बनते हैं। फ़ास्फ़रस नाइट्रोजन के कुटुम्ब का एक तत्त्व है, अतः संयोजन-शक्ति आदि अनेक गुणों में उससे मिलता-जुलता है। इन तत्त्वों के अनेक यौगिकों में भी सादृश्य होता है, यथा नाइट्रोजन का यौगिक अमोनिया और फ़ास्फ़रस का यौगिक फ़ास्फ़ीन गुणों में बहुत-कुछ समान होते हैं। यहाँ मैं फ़ास्फ़ीन गैस-संबंधी कुछ बातों का, उसकी मनोरंजकता के कारण, उल्लेख करूँगा।

अगिया बैताल

प्रयोगशाला में फास्फ़ीन प्रायःसफ़ेद फ़ास्फ़रस और कॉस्टिक सोडा के घोल की प्रतिक्रिया द्वारा तैय्यार की जाती है (पृष्ठ २३८५ का चित्र देखिए)। इस प्रकार बनती हुई गैस हवा अथवा ऑक्सिजन के संसर्ग में आते ही जल उठती है, इसलिए उक्त मिश्रण को गर्म करने के पहले फ्लास्क में हाइड्रोजन अथवा कोल गैस या आयल-गैस को प्रवाहित करके उससे हवा निकाल दी जाती है। निकलती हुई फ़ास्फ़ीन पानी को हटाकर गैस-जारों में इकट्ठी की जा सकती है। इस गैस का बुलबुला जैसे ही पानी के ऊपर उठकर फटता है वैसे ही वह जलकर फ़ास्फ़रस पेण्टॉक्साइड के कारणों से बना हुआ एक सफ़ेद धुएँ का कुंडल उत्पन्न कर देता है। ये धूम्रकुंडल हवा में उठकर आकार में बढ़ते जाते और अंत में हवा में विलीन हो जाते हैं। पानी के पृष्ठ पर आग लगने और इस प्रकार धुएँ के कुंडलों के उठने से एक अत्यंत मनोरंजक दृश्य उपस्थित हो जाता है। वास्तव में, फ़ास्फ़ीन नहीं बल्कि उसमें मिला हुआ एक दूसरा ही यौगिक—तरल हाइड्रोजन फ़ास्फ़ाइड (P_2H_4)—स्वतः जल उठनेवाला होता है और जलकर फ़ास्फ़ीन में भी आग लगा देता है।



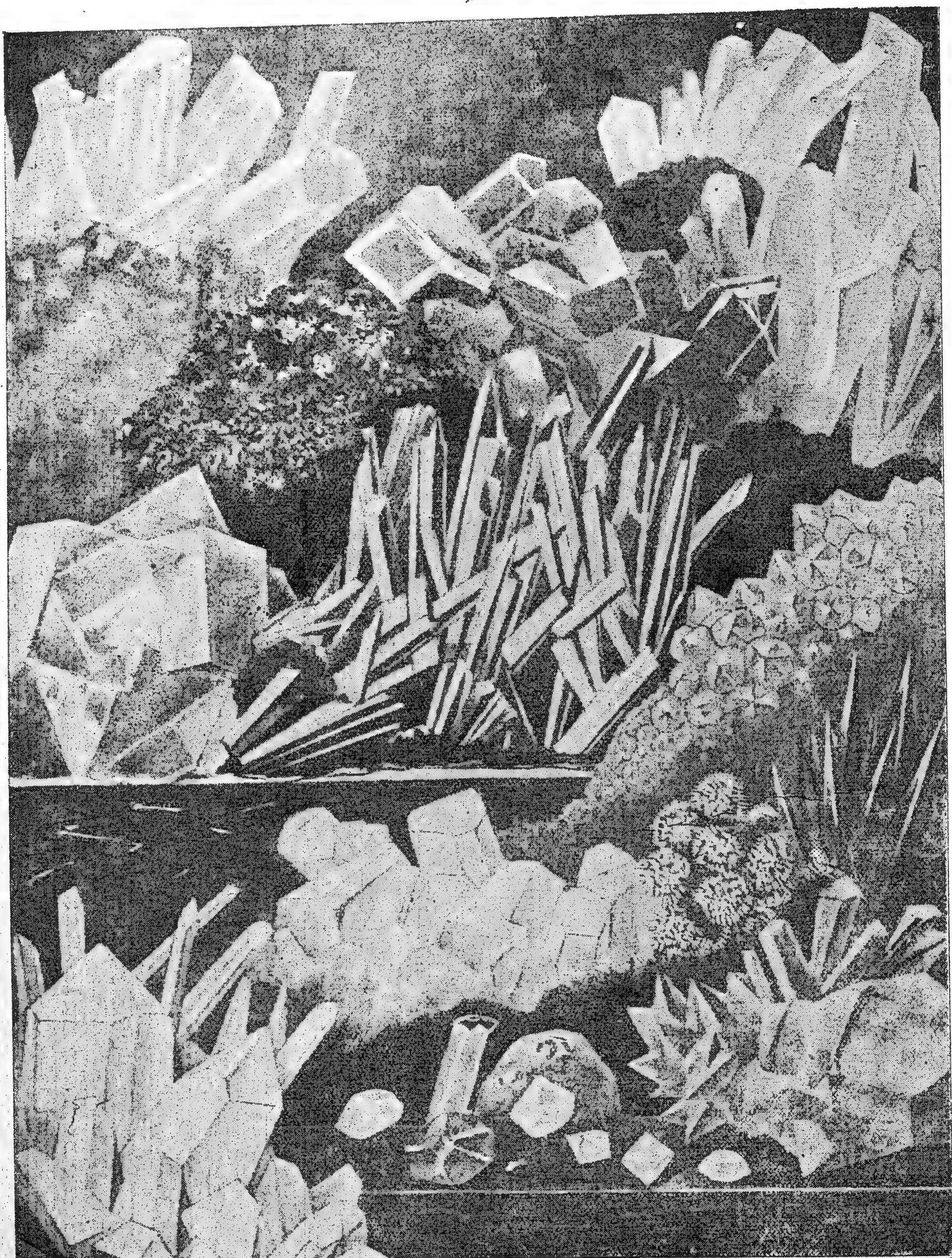
बमों में सफ़ेद फ़ास्फ़रस भरा जा रहा है।

फ़ास्फ़ीन को उत्पन्न करने की दूसरी विधि में कैल्शियम फ़ास्फ़ाइड पर पानी की क्रिया का उपयोग होता है। एक बीकर में थोड़े से कैल्शियम फ़ास्फ़ाइड के टुकड़े लेकर उन्हें कीप से ढक दीजिए। अब बीकर में इतना पानी छोड़ दीजिए कि वह कीप के सिरे से ऊपर हो जाय। फ़ास्फ़ीन के बुलबुले उसी प्रकार निकलकर जलने लगेंगे (पृ० २३८५ का ऊपरी चित्र देखिए)। इस क्रिया का उपयोग समुद्र पर रात्रि में संकेत देने के लिए किया जाता है। इस प्रकार के संकेतों को 'होम्स सिग्नल' कहते हैं। लकड़ी के प्लव में लगे हुए एक टीन के डब्बे में कैल्शियम फ़ास्फ़ाइड और कैल्शियम कार्बाइड का मिश्रण भर दिया जाता है। जब आवश्यकता होती है तो इस डब्बे के दोनों ओर एक-एक सूराख़ कर दिया जाता है और वह समुद्र में फेंक दिया जाता है। पानी के अंदर पहुँचते ही कैल्शियम फ़ास्फ़ाइड की प्रतिक्रिया द्वारा फ़ास्फ़ीन और कार्बाइड की प्रतिक्रिया द्वारा एसेटिलीन गैस का उत्पादन होने लगता है। इन दोनों गैसों का मिश्रण डब्बे से निकलते ही जल उठता है। एसेटिलीन बड़े ही तीव्र प्रकाश के साथ जलती है, अतएव समुद्र पर उजाला हो जाता है।

आपने कदाचित सुना होगा कि मरघटों में पड़े हुए शवों पर कभी-कभी आग की ज्वालाएँ दिखाई पड़ती हैं। यदि ऐसा हो भी तो उसमें न तो कोई आश्चर्य और न भय ही की बात है। 'अगिया बैताल' वस्तुतः सड़ते हुए शव से निकलकर जलती हुई फ़ास्फ़ीन का ही एक दृश्य मात्र है।

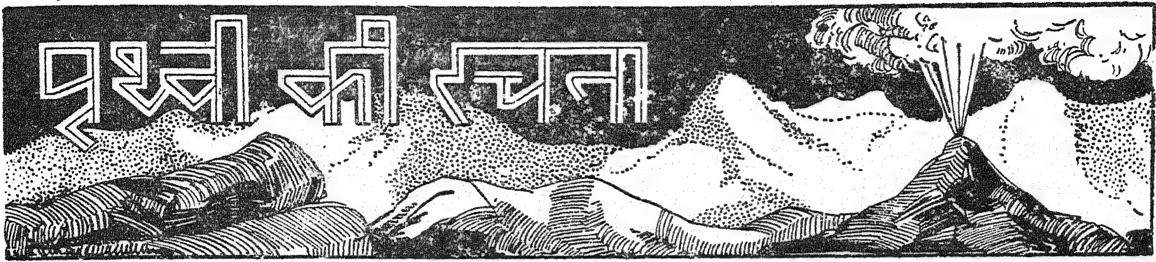


पृथ्वी की कहानी



खनिजों के भिन्न-भिन्न जाति के रवे

(कृपया ऊपर से पंक्तिवार बाईं ओर से दाहिनी ओर को देखिए) प्रथम पंक्ति—टूर्मलीन सेलेनाइट ; द्वितीय पंक्ति—सोनामाखी के दोनों रूप ; गंधक ; तृतीय पंक्ति—फ्लुओरस्पार ; ऐंटीमनी सल्फ़ाइड ; याक़ूत ; चतुर्थ पंक्ति—फ़ैल्स्पार ; आर्गेनाइट ; पाँचवीं पंक्ति—स्फटिक ; नीलम, माणिक, पन्ना, पुखराज, हीरा आदि कुछ प्रधान मणियाँ ; कैल्साइट ।



भूपृष्ठ के साधारण खनिज और उनकी पहचान--(१)

इस स्तम्भ के पिछले लेखों में हमने पाठकों को उन चमत्कारपूर्ण घटनाओं का परिचय देने की चेष्टा की है, जिनके कारण भूपृष्ठ निरन्तर परिवर्त्तित होता रहता है। इन्हीं परिवर्त्तनों के इतिहास में पृथ्वी की रचना का इतिहास छिपा है, यह बात हमारे पाठक अब तक भली-भाँति जान गए होंगे। जल, वायु, हिम आदि मौसमी कार्यकर्त्ता किस प्रकार निरन्तर नवीन परिवर्त्तनों की सृष्टि करते रहते हैं, नदियाँ किस प्रकार सदैव धरातल को समतल करने की चेष्टा करती हैं, सागर किस प्रकार अपने विस्तार को बढ़ाने और भूतल की सीमा छिन्न-भिन्न करने में रात-दिन लगा रहता है तथा किस प्रकार भूतल के छिन्न-भिन्न अंश को उदरस्थ करके वह नवीन शिलाओं की रचना करता है, किस प्रकार भूचाल भूगर्भ में होनेवाली खींचतान का दिग्दर्शन कराता है तथा ज्वालामुखी के उद्‌गार किस प्रकार भूगर्भ की आग्नेय अवस्था का परिचय हमें देते हैं, साथ ही किस प्रकार वे भूपृष्ठ पर आग्नेय शिलाओं की सृष्टि करते हैं—यह सब आप पढ़ चुके हैं। अब हम भूपृष्ठ की रचना का अध्ययन आरम्भ कर रहे हैं। किन्तु इसके पहले हम यह देखेंगे कि भूपृष्ठ की रचना जिन अवयवों के सम्मिश्रण से हुई है, उनकी पहचान किस प्रकार की जाती है। तत्पश्चात् हम उन खनिजों का वर्णन करेंगे जो भूपृष्ठ पर साधारणतः बहुतायत से पाए जाते हैं।

यद्यपि धरातल पर ६० मूलतत्त्व पाए जाते हैं तथापि भूपृष्ठ की रचना में जिन मूलतत्त्वों की बाहुल्यता है वे वस्तुतः केवल २१ ही हैं। इन्हीं २१ तत्त्वों को लेकर भूपृष्ठ के ६६ प्रतिशत भाग का निर्माण हुआ है—शेष मूलतत्त्व भूपृष्ठ के १ प्रतिशत भाग के ही अधिकारी हैं। इन २१ तत्त्वों में भी केवल ८ ही ऐसे हैं जो महत्त्व के हैं, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं (देखिए पृष्ठ ४१७)।

स्वतंत्र रूप में मूलतत्त्व बहुत कम पाए जाते हैं। सोना, गन्धक, कोयला (कार्बन) प्रभृति दो-चार तत्त्व तो मूलतत्त्व के रूप में भूपृष्ठ में पाए जाते हैं, शेष सब एक दूसरे के साथ रासायनिक रूप में सम्मिलित रहते हैं। मूलतत्त्वों के इन रासायनिक सम्मेलनों को, जिनकी रासायनिक रचना, प्राकृतिक रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि भौतिक गुण निश्चित होते हैं, खनिज (mineral) कहते हैं।

खनिज प्रायः निरे मूलतत्त्व के भी हो सकते हैं, जैसे हीरा, गन्धक, कोयला, सोना, चाँदी आदि। परन्तु बहुधा एक से अधिक मूलतत्त्वों के योग से ही खनिज की रचना होती है। ऐसे खनिजों की रचना में जिन मूलतत्त्वों का समावेश होता है, उनका अनुपात सदैव एक ही सा रहता है। रासायनिक विश्लेषण द्वारा खनिज के अवयवों का अनुपात निर्धारित होते ही खनिज की पहचान करने में सरलता हो जाती है। उदाहरणार्थ बिल्लौरी पत्थर की रासायनिक रचना सिलिकन और ऑक्सीजन नामक दो तत्त्वों के योग से होती है। अब चाहे किसी प्रकार का भी बिल्लौरी पत्थर क्यों न हो, उसमें सिलिकन के एक अणु के साथ ऑक्सीजन के दो अणुओं का अवश्य योग होगा। जब हम किसी खनिज का रासायनिक विश्लेषण करें और उसमें सिलिकन और ऑक्सीजन के अणुओं का उपरोक्त अनुपात पाएँ तब हम सहज ही यह समझ सकते हैं कि यह खनिज या तो बिल्लौर है अथवा उसी का कोई दूसरा रूप है।

परन्तु रासायनिक विश्लेषण की सुविधा हमें प्रत्येक स्थान पर मिलना असम्भव है। इसलिए यदि इसी के भरोसे हम रहें तो खनिजों की पहचान करने में हम बड़ी असुविधा का अनुभव करेंगे। इसके विपरीत खनिजों की प्राकृतिक (स्वाभाविक) अवस्था तथा उनके भौतिक गुणों द्वारा हम प्रत्येक स्थान में उनकी जाँच कर सकते हैं। इसलिए यह जानना परम आवश्यक है कि खनिजों के किन भौतिक और स्वाभाविक गुणों द्वारा उनकी पहचान की जा सकती है।

हमें यह न भूलना चाहिए कि खनिजों की खोज हम पार्वतीय प्रदेश के शिलाखण्डों में ही करते हैं। मैदानों में

खनिजों का मिलना असम्भव-सा है, क्योंकि मैदान तो शिलाखण्डों की ऐसी महीन चूरचार से बने होते हैं कि उसमें खनिज अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठते हैं। अतएव उन जंगलों और पहाड़ों में हमें ऐसे ही साधनों का उपयोग करना चाहिए जो हमें वहाँ सुलभ हों। नीचे हम खनिजों के केवल उन्हीं भौतिक गुणों का वर्णन करते हैं, जिनके द्वारा सरलतापूर्वक बिना किसी प्रकार के यंत्रों के उपयोग के उनकी पहचान की जा सकती है।

(१) **खनिजों का रवादार होना**—लगभग सभी खनिज रवादार होते हैं और विभिन्न खनिजों के रवे विभिन्न आकार-प्रकार के होते हैं, क्योंकि प्रत्येक खनिज के अणुओं की एक निश्चित आन्तरिक रचना होती है, जिसके अनुसार खनिजों के निम्नतम अंश चिकने समतल फलकों से घिरे रवों के रूप में पाए जाते हैं। रवों के फलक सरल रेखाओं से सीमित होते हैं। जहाँ दो फलक मिलते हैं, वहाँ एक धार बन जाती है। रवों में सबसे सुन्दर और पूर्ण रवा स्फटिक (Quartz) या बिल्लौर का होता है, जिसे स्फटिक मणि के नाम से भी पुकारा जाता है। स्फटिक मणि में छः चतुर्भुजाकार समपार्श्व होते हैं और प्रत्येक पार्श्व के दोनों सिरों पर एक-एक त्रिभुजाकार पार्श्व पाया जाता है। उन छहों त्रिभुजाकार पार्श्वों के एक बिन्दु में मिलने से रवे के दोनों सिरों पर छः फलकवाले दो शंकुओं की रचना हो जाती है। स्फटिक मणि का कोई भी रवा आप लें, प्रत्येक की रचना इसी प्रकार की होगी। इसी प्रकार कैल्साइट (Calcite) नामक खनिज का रवा भी एक आदर्श रवा है। इस खनिज के रवों की एक और विशेषता यह है कि प्रत्येक रवे का चूर्ण करने पर वह वैसे ही असंख्य छोटे रवों में बिखर जाता है और ऐसे प्रत्येक छोटे रवे का आकार-प्रकार उसी बड़े रवे के समान होता है जिसका कि वह खण्ड होता है।

रवे विभिन्न आकार के और असंख्य होते हैं। परन्तु प्रत्येक खनिज के रवे सदैव एक ही आकार-प्रकार के होते हैं। इस प्रकार रवों द्वारा खनिजों की पहचान बड़ी सरलता से की जा सकती है। कुछ ऐसे भी खनिज हैं, जिनके रवे नहीं होते। ये रवाहीन (Amorphous) खनिज कहलाते हैं। परन्तु ऐसे खनिज कम ही हैं और अनुकूल अवस्था में इनके भी रवे बन जाते हैं।

(२) **खनिजों के रवों की तड़कन**—ऊपर हमने कैल्साईट के रवे के जिस विशेष गुण का वर्णन किया है, अन्य खनिजों में भी उसी तरह एक विशेष प्रकार से खण्डित होने का गुण होता है। इस गुण को रवों की तड़कन (cleavage) कहते हैं। रवों की इस विशेषता के कारण खण्डित होने पर भी उनके फलकों की चिकनी तल बनी रहती है और चकनाचूर हो जाने पर भी उनके खण्ड रवों के रूप में पहचाने जा सकते हैं। कैल्साइट के रवे समबाहुविषम-कोणीय छः चतुर्भुजों से घिरे ठोस होते हैं। खण्डित होने पर उन रवों का पैत्रिक रूप बना ही रहता है। इसी प्रकार साधारण लवण के रवे घनाकार होते हैं। इन रवों की तड़क परस्पर समकोण पर झुकी तीन दिशाओं में होती है और प्रत्येक दिशा घनाकार रवे के एक फलक के समानान्तर होती है। अबरक (Mica) के रवों की तड़क एक फलक के समानान्तर की दिशा में होती है। फलस्वरूप अबरक सदैव पतले-पतले परतों के रूप में चीरी जा सकती है। यह अबरक की एक अनोखी विशेषता है।

(३) **खनिजों और उनकी लकीरों के रंग**—खनिजों के रंग भी बहुधा निश्चित होते हैं। एक प्रकार का खनिज सदैव एक ही रंग का होता है और उसका रंग बहुधा दूसरे खनिजों के रंगों से विभिन्न होता है। परन्तु कभी-कभी एक ही खनिज कई रंग की जातियों में भी पाया जाता है, जैसे साधारणतः स्फटिक रंगविहीन अथवा दूधिया रंग का होता है, परन्तु इसके हल्के गुलाबी, हरे, भूरे तथा कत्थई रंग के भी नमूने मिलते हैं। यह तो हुई खनिजों के ऊपरी रंग की बात। पर बहुधा ऐसा भी होता है कि ऊपर से देखने में खनिज जिस रंग का प्रतीत होता है उसका चूर्ण उससे विभिन्न रंग का होता है। सोनामाखी (Chalcopyrite) नामक ताँबे के गन्धक मिश्रित खनिज का रंग ऊपर से सोने जैसा पीला होता है, परन्तु उसका चूर्ण काला होता है। इसी प्रकार काले रंग के लौहपाषाण (Hematite) का चूर्ण लाल रंग वाला होता है। चूर्ण का रंग जाँचने के लिए खनिज द्वारा खींची गई लकीर का रंग जाँचा जाता है। यह लकीर चीनी मिट्टी की एक खुरदरी पटिया की कसौटी पर खनिज को खुरेंचकर बनाई जाती है।

(४) **खनिजों की आभा**—कुछ खनिजों में एक विशेष प्रकार की आभा होती है, जो अन्य खनिजों में नहीं होती। कुछ खनिज एकदम आभाविहीन भी होते हैं। जिन खनिजों में आभा होती है, उनमें से कुछ तो हीरे के समान दमकते हैं, कुछ मोतियों के समान चमकते हैं। कुछ खनिजों की चमक काँच के भग्न खण्ड की-सी होती है और कुछ की रेशम के समान! किसी-किसी में मोरपंख

जैसी चमक होती है। पर हर हालत में प्रत्येक खनिज की आभा भिन्न होती है।

(५) **खनिजों की कठोरता**—कठोरता द्वारा भी खनिजों की पहचान की जाती है। प्रत्येक खनिज की कठोरता भिन्न होती है। कुछ इतने नरम होते हैं कि हाथ के नाख़ून से खुरेंचे जा सकते है और कुछ इतने कठोर कि उन पर लोहे की धार भी नष्ट हो जाती है। खनिजों की कठोरता की जाँच के लिए विभिन्न कठोरतावाले १० खनिजों को उनकी कठोरता के क्रम से रखकर एक माप निर्धारित कर लिया गया है। उदाहरणार्थ सबसे कम कठोरतावाले खनिज सेलखरी की कठोरता को एक के बराबर और सबसे कठोर खनिज हीरे की कठोरता को दस के बराबर माना जाता है। बीच की कठोरताओं के लिए अन्य खनिजों के मापदण्ड का उपयोग किया जाता है। जिन खनिजों का उपयोग कठोरता की माप के लिए किया जाता है क्रम से उनके नाम निम्न तालिका में दिए जाते है :—

१—सेलखरी (Talc); २—हरसोंठ (Gypsum); ३—कैल्साईट (Calcite); ४—फ्लुओराईट (Fluorite; ५—एपेटाईट (Apatite); ६—फैल्सपार (Felspar; ७—स्फटिक (Quartz); ८—पुखराज (Topaz); ९—कुरंद (Corundum); १०—हीरा (Diamond)।

उपरोक्त सूची में से प्रत्येक खनिज क्रमानुसार अपने पूर्ववाले खनिज को खुरेंच सकता है, और अपने से अधिक कठोर आगेवाले खनिज से खुरेंचा जा सकता है। इन खनिजों के अतिरिक्त कठोरता की जाँच पैसे, नाख़ून, चाक़ू की नोक, काँच की धार आदि से भी की जाती है।

(६) **खनिजों का भारीपन**—कुछ खनिज हल्के और कुछ भारी होते हैं। बहुधा धातुमिश्रित खनिज भारी होते हैं। प्रत्येक खनिज का आपेक्षिक घनत्व निश्चित होता है, जिसके कारण अन्य खनिजों से वह अलग किया जा सकता है। किसी खनिज का घनत्व २ और किसी का २० तक होता है। साधारणतः खनिजों के छोटे-छोटे खण्डों को हाथ में तौलकर ही उनके भारीपन का अन्दाज़ा लगाया जाता है। परन्तु खनिजों के आपेक्षिक घनत्व की जाँच सरलतापूर्वक 'वाकर्स बैलेन्स' नामक यंत्र से की जा सकती है। यह एक लम्बी तराज़ू सा यंत्र होता है, जो एक धुरी पर एक किनारे के पास सधा रहता है। इसके छोटे पलड़े में एक निश्चित वज़न बँधा रहता है और बड़े में खनिज खण्ड को आगे-पीछे खिसकाकर पैमाने को समतल रखते हुए लटकाया जाता है। पहले खनिज को हवा में लटकाया जाता है और फिर जल में डुबाकर। दोनों बार की माप से खनिज का आपेक्षिक घनत्व सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है।

उदाहरणार्थ यदि पैमाने को समतल रखने के लिए पहले खनिज को 'अ' स्थान पर लटकाया गया था और जल में डुबाकर फिर उसको समतल करने के लिए पुनः 'ब' स्थान पर लटकाया गया तो खनिज का आपेक्षिक घनत्व निम्नलिखित अनुसार होगा :—

$$\text{आपेक्षिक घनत्व} = \frac{\text{ब}}{\text{ब}-\text{अ}}$$

खनिजों के उपरोक्त भौतिक गुण ऐसे हैं, जिनकी जाँच के लिए किसी प्रकार के यंत्रों आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती और इन गुणों की पहचान करने से खनिजों की पहचान सरलता से की जा सकती है। परन्तु जब तक खनिजों की पहचान का अभ्यास खनिजों के नमूनों को स्वयं अपने हाथ में लेकर न किया जाए तब तक केवल पुस्तकों के आधार पर उनकी पहचान नहीं की जा सकती, चाहे उन पुस्तकों में इन खनिजों का कितने ही विस्तार से वर्णन क्यों न किया जाय।

अब हम भूपृष्ठ के कुछ ऐसे उपयोगी और महत्त्वपूर्ण खनिजों का वर्णन करेंगे, जो बाहुल्यता से पाए जाते हैं तथा चट्टानों की रचना में जो विशेष रूप से काम आते हैं। चिप्पड़ की चट्टानों की रचना के अध्ययन के लिए इन खनिजों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

भूपृष्ठ जिन तत्त्वों से मिलकर बना है, खनिज पदार्थ उन्हीं तत्त्वों के रासायनिक यौगिक रूप हैं। पृष्ठ ४१७ पर हम बता चुके हैं कि भूपृष्ठ की रचना में जिन तत्त्वों का समावेश है उनमें ऑक्सीजन, सिलिकन, अल्यूमिनियम तथा लोहा नामक चार तत्त्वों का बाहुल्य है। यही कारण है कि भूपृष्ठ के खनिजों में भी इन्हीं तत्त्वों से बने खनिजों की प्रचुरता है। ये तत्त्व अधिकांश आक्साइडों के रूप में मिलते हैं। कुछ तत्त्व गन्धक से सम्मिलित सल्फाईडों के रूप में भी पाये जाते हैं, परन्तु ऐसे खनिजों की बाहुल्यता नहीं है। अकेले एक तत्त्व के रूप में मिलनेवाले खनिज (प्राकृतिक रूप में पाए जानेवाले सोना, गन्धक प्रभृति खनिज) अत्यन्त ही अल्प मात्रा में मिलते हैं। पहले हम भूपृष्ठ के ऑक्सीजन-प्रधान खनिजों का अध्ययन करेंगे।

ऑक्साइड अथवा ऑक्सीजन-प्रधान खनिज

स्फटिक (Quartz)—यह सिलिकन का ऑक्साइड

है और धरातल पर प्रचुर रूप में पाया जाता है। इसका आपेक्षिक घनत्व २·६५ है और यह रवादार होता है। इसके रवे यदि पूर्ण होते हैं तो दर्शनीय होते हैं। स्वच्छ निर्मल रवे को 'स्फटिक मणि' (Rock Crystal) अथवा बिल्लौर कहते हैं। स्फटिक मणि एकदम पारदर्शक काँच की भाँति होता है और बहुधा रंगविहीन होता है, परन्तु कभी-कभी उसके रंगीन रवे भी पाये जाते हैं। रंगीन स्फटिक गुलाबी, पीला, लाल, हरा, भूरा, कत्थई और काला आदि कई रंगों का होता है। जो स्फटिक सिलिकन का विशुद्ध ऑक्साईड होता है, वह सदैव रंगविहीन ही होता है। अन्य तत्त्वों की मिलावट से रंगीन स्फटिक की रचना होती है। बैंजनी रंगवाले स्फटिक को 'याक़ूत' (Amethyst) कहते हैं। काले रंग के अपारदर्शक खनिज को 'सूर्यकांत' (Jasper) मणि के नाम से पुकारते हैं। गोमेदक (Agate) भी इसी खनिज की एक जाति है। इस खनिज की ओपल (Opal) आदि अन्य कई बहुमूल्य जातियाँ हैं, जो मणियों की श्रेणी में गिनी जाती हैं।

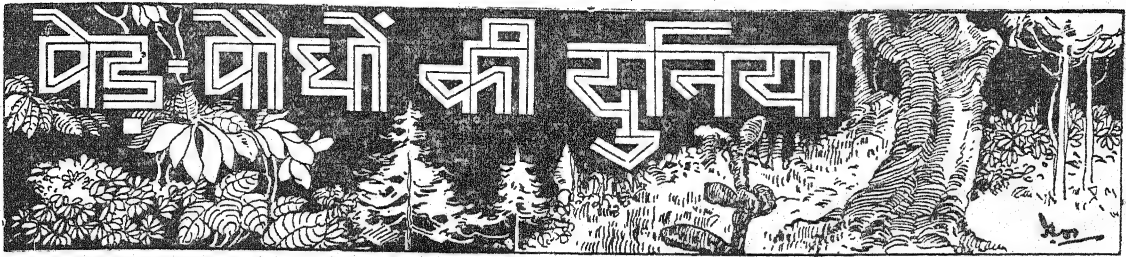
स्फटिक की पहचान करना कठिन नहीं है। इसकी चमक काँच के सदृश्य होती है और कठोरता काँच से भी अधिक। इसकी नोक से काँच पर खरोंचा जा सकता है, और चाकू की नोक द्वारा इस पर खरोंच नहीं होती। साधारण अम्लों (तेज़ाबों) में यह घुलनशील नहीं है। यह खनिज भूपृष्ठ की अधिकांश चट्टानों का आवश्यक अंग है। जल की प्रक्रिया से यह प्रायः ठोस चट्टानों की दरारों में भर जाता है और चट्टानों में यह बहुधा धारियों के रूप में पाया जाता है।

लोहे के ऑक्साइड खनिज—भूपृष्ठ पर सिलिकन के उपरोक्त खनिज के अतिरिक्त लोहे के ऑक्साइड खनिजों की भी बाहुल्यता है। लोहे के ऑक्सीजन-मिश्रित तीन खनिजों के नाम महत्त्व के हैं—लाल गेरू या हेमेटाइट (Hematite), रामरज अथवा पीला गेरू या लिमोनाइट (Limonite), तथा चुम्बक पत्थर या मैग्नेटाइट (Magnetite)। लालगेरु में ७० प्रतिशत भाग लोहा तथा ३० प्रतिशत भाग ऑक्सीजन का होता है। अन्य तत्वों के मिश्रण से बहुधा इस अनुपात में अन्तर पड़ जाता है। इसके रवे विषमकोण-समचतुर्भुजाकारी फलक वाले होते हैं। चाकू की नोक द्वारा इस खनिज पर खरोंच करना कठिन है। रवादार गेरू बहुत कम पाया जाता है। बहुधा यह पिण्डाकार तथा पर्तों के रूप में मिलता है। इसका आपेक्षिक घनत्व ५·१६ से ५·२८ तक होता है। रंग में यह लाल, भूरा तथा इस्पात के समान काला होता है। इसका चूर्ण तथा खरोंच की लकीर सदैव लाल होती है। कभी-कभी इस खनिज का अबरक के समान चमकदार और परतीला रूप भी पाया जाता है। रेशेदार गेरू भी कभी-कभी देखने में आया है। इस खनिज का उपयोग लोहे के उत्पादन में सर्वत्र होता है। साधारण चट्टानों में लाल रंग बहुधा लोहे के इसी खनिज के कारण पाया जाता है। गेरू का उपयोग रंग बनाने में बहुत होता है। भारत में मयूरभञ्ज राज्य में इस खनिज की बाहुल्यता है।

पीला गेरू अथवा रामरज खनिज गेरू की ही एक जाति है। जल की प्रतिक्रिया द्वारा लोहे के अन्य खनिजों के परिवर्त्तन से इस खनिज की रचना होती है। इस खनिज में ६० प्रतिशत भाग लोहा, २५ प्रतिशत भाग ऑक्सीजन और शेष भाग जल होता है। इसकी रचना जलाशयों, कन्दराओं तथा झीलों की तली में होती है। कन्दराओं में स्टैलकटाइट और स्टैलगमाइट नामक विचित्र रचनाओं के रूप में भी यह खनिज पाया जाता है। इसका रंग पीला परन्तु बहुधा भूरापन लिये हुए होता है। वार्निश और पेंट बनाने के उद्योग में यह बहुत काम आता है। इसका भारीपन अधिक नहीं है और आपेक्षिक घनत्व ३·६४ होता है। कठोरता भी लाल गेरू की अपेक्षा कम होती है। यह भुरभुरा होता है और बहुधा पिण्डाकार मिलता है। इसकी खरोंच पीली अथवा भूरी होती है और चूर्ण मटीला अथवा पीला। हमारे देश में इसे रामरज कहते हैं और यह दीवालों को पीला करने तथा पीले रंग के कपड़े रंगने के काम आता है।

चुम्बक पत्थर, जिसे अंगरेज़ी में मैग्नेटाइट कहते हैं, लोहे का ऑक्सीजन-मिश्रित तीसरा महत्वपूर्ण खनिज है। इसमें लोहे का अंश ७२·४१ प्रतिशत तथा शेष भाग ऑक्सीजन होता है। चुम्बक पत्थर रवादार जाति का भी पाया जाता है तथा रवाहीन पिण्ड के रूप में भी। इसका रंग लोहे के समान होता है। खरोंच भी लोहे के समान काली होती है और चूर्ण भी वैसा ही। चुम्बकत्व इस खनिज की विशेषता है। इसीलिए इसका नाम चुम्बक पत्थर पड़ा है। चुम्बक की सुई द्वारा इसकी पहचान सरलता से की जा सकती है।

भूपृष्ठ पर लोहे के खनिजों के अतिरिक्त अल्युमिनियम और सिलिकन के खनिजों की भी बहुतायत है। इन तत्वों के खनिजों में सबसे महत्वपूर्ण खनिज फेलस्पार है, जिसकी कई जातियाँ हैं। आगे के लेख में हम इसी खनिज के सम्बन्ध में लिखेंगे, साथ ही अन्य खनिजों का भी वर्णन करेंगे।

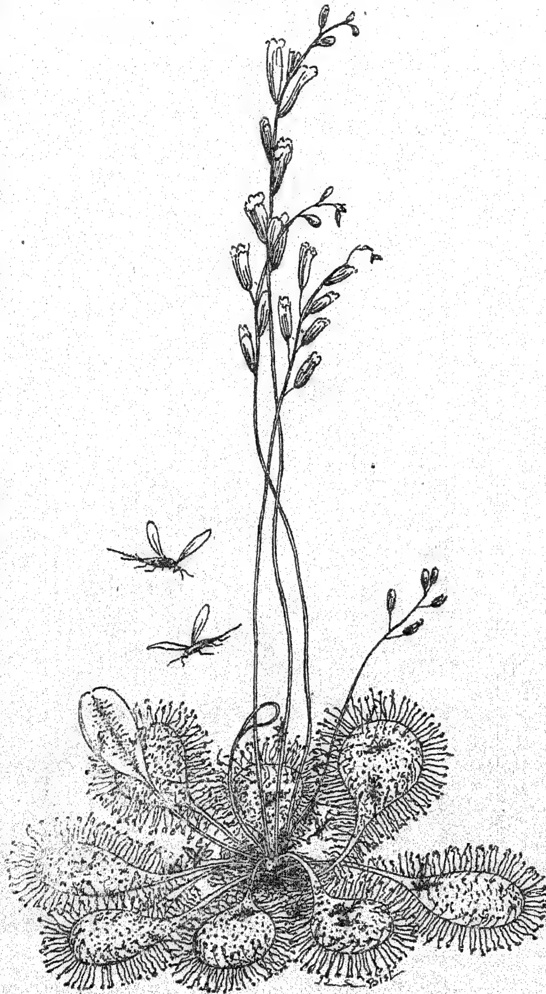


कीटाशी अथवा क्रान्तिकारी हिंसक पौधे--नाइट्रोजन-एसिमिलेशन के कुछ असाधारण तरीक़े—(२)

३. वे कीटाशी पौधे जिनका एक-न-एक अंग स्पर्श से उत्तेजित हो उठता है

इस समूह में वे पौधे हैं, जिनकी पत्तियों अथवा पत्तियों के एक-न-एक भाग में कीड़ों-मकोड़ों तथा दूसरे नाइट्रोजनीय द्रव्यों के स्पर्श से हरक़त होने लगती है। परिणाम यह होता है कि बेचारा जीव वहीं फँस जाता है। उत्तेजित अंग से एक तरह का रस निकलता है, जिसमें नाइट्रोजनीय द्रव्य पचाने का गुण होता है। कनकपर्णी (*Drosera*) (चि० १), कपाटपर्णी (*Dionœa*) (चि० २) आदि इस वर्ग के विख्यात पौधे हैं।

किसी-किसी जाति की तूँबिलता की तूँबियों पर एक प्रकार की मकड़ी आ डटती है; परन्तु केवल अपने स्वार्थ के लिए। सुखमय जीवन बिताने की इससे अधिक सुविधा इस जीव को और कहीं नहीं प्राप्त हो सकती है और यह तूँबिद्वार पर अपना जाल बिछाकर कीड़े फँसाने में पौधे की मदद करती है, साथ ही साथ अपना हिस्सा बँटाकर स्वयं भी शिकार करती रहती है।



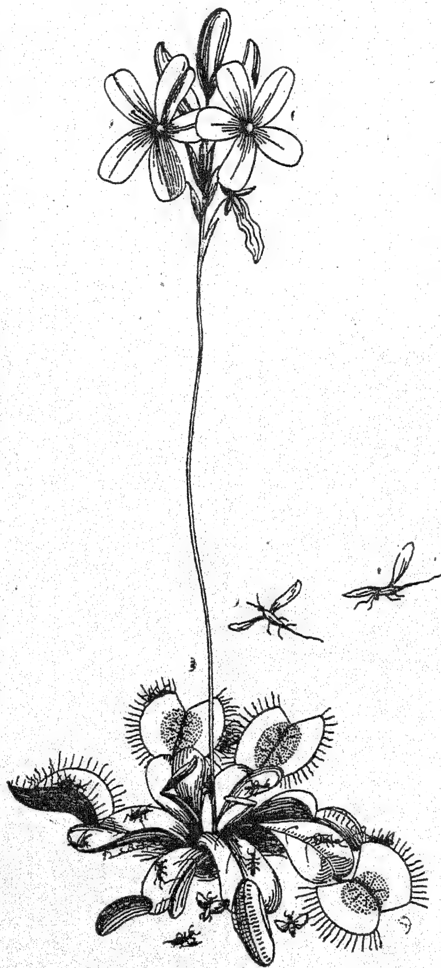
चि० १—कनकपर्णी

इस वर्ग के कीटाशी पौधों के अन्तर्गत एक छोटा-सा पराश्रयी पौधों का समूह है। पत्तियों के नाते इनमें भी दूसरे पराश्रयी पौधों की तरह वल्कपत्र ही होते हैं (चि० ३)। इन पत्तियों की बनावट ऐसी होती है कि इनमें घुमावदार सुरंगें बन जाती हैं (चि० ४)। उन सुरंगों के द्वार इतने संकुचित होते है कि केवल अत्यन्त छोटे कीड़े ही उनमें प्रवेश कर सकते हैं। यद्यपि इन सुरंगों के द्वार पर कोई विशेष ढंग के पर्दे नहीं होते, फिर भी यहाँ जो कीड़े एक बार दाख़िल हुए वे बाहर नहीं आ पाते। कारण यह है कि इन सुरंगों की अधित्वक् के कोशों में दो प्रकार की ग्रन्थियाँ होती है—एक सनाल (चि० ४) और दूसरी नाल-रहित। कहते हैं, कीड़ों के स्पर्श से सनाल ग्रंथियाँ उत्तेजित हो उठती हैं। लोगों का यह भी मत है कि यही कीड़ों के मार्ग में बाधा पहुँचाती हैं और उन्हें सुरंग से बाहर नहीं होने देतीं। इन कीड़ों के अंगों के खाद्य पदार्थ—मांस, वसा, रुधिर आदि—जज़्ब हो जाते हैं और रोयें तथा जबड़े जैसे पदार्थ पड़े रह जाते हैं। सम्भव है, शोषण-क्रिया में

नालरहित ग्रन्थियों का विशेष लगाव हो। रदनपर्णी (Toothwort) (चि० ३) इन्हीं विचित्र पौधों में से एक है। हमारे देश में कनकपर्णी की दो जाति के पौधे होते हैं। ये हिमालय पर्वत के शिमला, मसूरी, नैनीताल आदि स्थानों में तथा बंगाल, बिहार और दक्षिण भारत में उगते हैं।

कनकपर्णी में शिकार पकड़ने और भोजन पचाने की क्रिया बड़ी तत्परता से होती है। इसकी पत्ती पर रक्तवर्ण के छत्रधारी रोम होते हैं (चि० ५) और प्रत्येक रोम पर ओस की बूँद जैसी नन्हीं-सी रसबूँदें रहती हैं, जिससे प्रकाश में कनकपर्णी के बूटे ऐसे जगमगा उठते हैं जैसे मोतियों से लदे नन्हें-नन्हें झाड़ चमक रहे हों! एक जाति की कनकपर्णी में पत्तियाँ गुच्छे के रूप में भूमि पर बिछी रहती हैं। सूरज की किरणें पड़ने पर इनकी ऐसी छटा हो जाती है मानों छोटी-छोटी लाल मख़मली गद्दियों पर हज़ारों सुनहली आल्पीनें लगी हों!

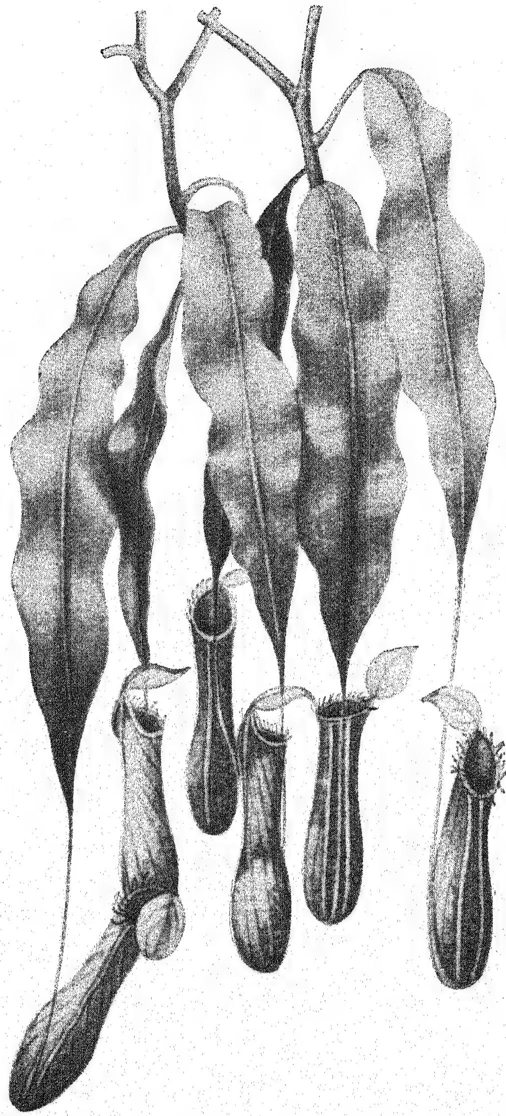
कनकपर्णी की पत्तियों पर किनारे की ओर के रोम सबसे बड़े होते हैं और अन्दर की ओर को वे क्रमशः छोटे होते जाते हैं। पत्ती के मध्यभागवाले रोम सबसे छोटे होते और वे बिल्कुल सीधे खड़े रहते हैं। इन पत्तियों से प्रकाश में ठीक फूल का-सा भ्रम होता है, जिसे मधु से परिपूर्ण समझ पतिंगे अनायास ही उन पर टूट पडते हैं; परन्तु ज्योंही अग्रसर हो रसबूँदों को शहद के धोखे में चखने के लिए वे बढ़ते हैं, त्योंही उनके अंग इस चिपचिपे रस में फँसने लगते हैं और चौकन्ने हो वे पंख-पंजे रगड़ते हुए जब अपने को मुक्त कर भागने की चेष्टा करते हैं तो ऐसी हरकत से उनके अंग और भी फँसने लगते हैं! इधर पतिंगे के अंग की रगड़ से ग्रन्थियों में से रस और भी अधिक तेज़ी से बह चलता है, साथ ही पत्ती के रोम चारों ओर से झुककर एक-एक करके शिकार को आ जकड़ते हैं (चि० ५ ब), जिससे उसका निकल भागना असंभव हो जाता है। फलतः उस बेचारे का दम घुटने लगता है और वह जहाँ का तहाँ पड़ा-पड़ा ही जान खो देता है। इन रोमों की हरक़त बड़े नियमित ढंग से होती है। जैसे ही इनका कीड़े या अन्य नाइट्रोजनीय द्रव्य से स्पर्श होता है, वैसे ही वे नीचे को झुकने लगते हैं। इस क्रिया में लगभग १० मिनिट लगते हैं। कोई २० मिनिट पश्चात् उत्तेजित रोमों के पड़ोसवाले रोम भी वैसी ही हरक़त करने लगते हैं और लगभग तीन घंटे में पत्ती के सारे रोम शिकार पर आ जुटते हैं। यदि कीड़ा पत्ती की कोर की ओर हुआ तो सारे रोम उस ओर को झुकते हैं, पर यदि वह बीच में आ बैठा तो चारों ओर के रोम वहीं उसे आ जकड़ते हैं! जब कभी दो कीड़े एक साथ पत्ती पर आ बैठते हैं तो सब रोम इन दोनों पर एक ही साथ इधर-उधर को झुकते हैं। तात्पर्य यह है कि अवस्थानुसार पत्ती के रोम दाएँ-बाएँ सब के सब इकट्ठे अथवा बँटकर शिकार पर आक्रमण करते हैं। कभी-कभी रोमों के मुड़ने के साथ ही साथ पत्ती की सतह पर भी प्रभाव पड़ता है, जिससे पत्रदल खाली होकर हमारी हथेली जैसा हो जाता है, जो किनारे के रोमों के बीच की ओर मुड़ने के कारण बंद मुट्ठी जैसा दिखाई देता है।



चि० २—कपाटपर्णी

कनकपर्णी का शिकार अधिकतर छोटे-छोटे कीड़े ही होते हैं; परन्तु कभी-कभी मक्खियाँ और छोटी तितलियाँ भी उनके चंगुल में आ फँसती हैं। ऐसी दशा में इस पौधे की दो या दो से अधिक पत्तियाँ मिलकर शिकार को काबू में लाती हैं।

शिकार के आकार और वज़न के अनुसार ही उसे हज़्म करने में समय लगता है। छोटे-छोटे कीड़ों को जज़्ब करने में लगभग दो दिन लगते होंगे, पर बड़ी जाति के पतिंगों में इससे अधिक समय लगता है। इस क्रिया की समाप्ति के बाद पत्ती के रोयें फिर उठकर सीधे खड़े हो जाते हैं।



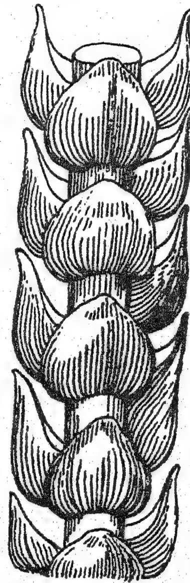
वनस्पति-संसार का एक प्रसिद्ध कीटाशी पौधा—घटपर्णी

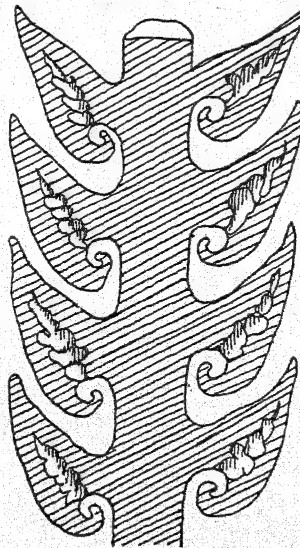
जिसमें शिकार फँसाने के लिए विशेष प्रकार की तूँबियाँ होती हैं, जैसी कि चित्र में लटकते हुए देखी जा सकती हैं ।

पचनक्रिया के समाप्त होने पर कीड़े के जबड़े, आँखें, पंजे जैसे अंग तो जैसे के तैसे पड़े रहते हैं, पर रुधिर, मांस, मल-मूत्र आदि सब जज़्ब हो पौधे के अंगों में जा मिलते हैं। इसके साथ ही साथ जो रस पत्ती में से निकले थे उनका भी शोषण हो जाता है और पत्ती पर अब रस की एक बूँद भी नहीं रह जाती। कीड़े के वे अंग जो जज़्ब नहीं होते हवा में उड़कर इधर-उधर फैल जाते हैं। दो-तीन दिन गुजर जाने के बाद फिर शिकार पकड़ने के लिए तैयार हो जाती है।

कपाटपर्णी (*Dionæa*) (चि० २) इस वृन्द का दूसरा पौधा है। यह केवल उत्तरी अमेरिका के कुछ पूर्वी भागों में दलदलों के निकट उगता है। दूसरे कीटाशी पौधों की तरह इसमें भी पत्तियाँ गुच्छे के रूप में पुष्पनाल के इर्द-गिर्द भूमि के निकट ही रहती हैं (चि० २)। इसकी सम्पूर्ण पत्ती अथवा उसका कुछ भाग भूमि पर रक्खा रहता है और पत्रनाल साधारण पत्ती जैसा चौड़ा तथा चमसाकार होता है। इसके ऊपर गोलाई लिये हुए छोटा-सा पत्रदल होता है, जो सीपी के दो पल्ले जैसा होता है और उन पल्लों के बीच में प्रधान नस होती है। साधारण दशा में ये पल्ले खुली किताब की तरह एक दूसरे से ६०°—९०° का कोण बनाते हैं। पत्ती के दोनों पल्लों की कोर पर कुछ लंबे तीक्ष्ण काँटे-जैसे रोम तथा उनके बीचो-बीच तीन बड़े रोम होते हैं (चि० ६)। पत्रदलवाले काँटों से सटी एक छोटी-सी बेलनाकार तन्तुओं की गद्दी होती है। इस गद्दी के कोश कोमल होते हैं और इनकी यह विशेषता है कि उनसे सटे हुए काँटे झुक और उठ सकते हैं। पत्ती की सतह पर कुछ अर्ग़वानी ग्रंथियाँ होती हैं, जिनसे गोंदीला रस आया करता है।

आहार की खोज में निकले पतिंगे जिस समय कपाटपर्णी की पत्तियों पर रेंगते हैं, उस समय उनके दोनों पल्ले, जो अभी तक खुले थे, मुड़कर मिल जाते हैं, जिससे कीड़ा इनके बीच चपक जाता है। इस क्रिया में पत्ती के किनारे के काँटे आपस में ऐसे फँस जाते हैं जैसे हमारे हाथ की उँगलियाँ पंजा भिड़ाने में फँस जाती हैं। पत्रदल के दोनों कपाट, जो अब तक समतल थे, अब कटोरी के समान खाली हो जाते हैं और उनके सम्पुटाकार स्थान के बीच आगन्तुक कीड़ा क़ैदी हो जाता है। कीड़ा फँसाते समय ये पल्ले सदैव एक गति से नहीं मुड़ते। अगर कीड़ा पत्ती पर ऐसी जगह बैठता है जहाँ साधारण ग्रंथियाँ होती हैं तो वे धीरे-धीरे मुड़ते हैं, पर यदि कहीं वह कटोरी के बीचवाले रोमों से छू गया तो पत्ती के दोनों हिस्से तुरंत ही आ मिलते हैं। इसके पश्चात् कटोरी के अन्दर क्या होता है, यह उस वस्तु पर निर्भर है जो उस पौधे के रोमों को उत्तेजित करती है। वैसे तो पत्ती किसी भी वस्तु के लगने से उत्तेजित हो जाती है और उसके कपाट आपस में आ लगते हैं, परंतु अनाइट्रोजनीय द्रव्य के लगने से बंद होने के बाद पत्ती के दल तुरंत ही पूर्व दशा में आ जाते हैं और नाइट्रोजनीय वस्तु के लगाव से वे उसे कुछ समय तक ढके रहते हैं! इस दशा में वे समतल होकर ऐसे ज़ोर से परस्पर चिपटते हैं कि बीच में दबा हुआ पदार्थ यदि कोमल हुआ तो तुरंत ही पिस जाता है। साथ ही पत्ती की वे ग्रंथियाँ जो अभी तक सूखी पड़ीं थीं एकाएक क्षारीय लसलसा रस बहाने लगती हैं। यह रस पत्ती की सारी ग्रंथियों से, चाहे उनका अन्दर दबे शिकार से लगाव हो या न हो, बहने लगता है। अगर पत्ती की सम्पुट-क्रिया के बीच में उसे खोल कर देखा जाय तो उसमें चारों ओर रस की बूँदे दिखाई देंगी। यही रस क़ैदी जीव को गला-घुला लेता है और बाद में शोषण से इन्हीं ग्रंथियों के रास्ते कपाटपर्णी के अन्दर प्रवेश करता है। जब पत्ती फिर खुलती है तो वह ख़ुश्क नज़र आती है। इस प्रकार कीड़ों का मांस, रुधिर, वसा आदि सभी कुछ पौधे के काम आते हैं। कुछ दिन बाद पत्ती फिर शिकार के लिए तैयार हो जाती है।

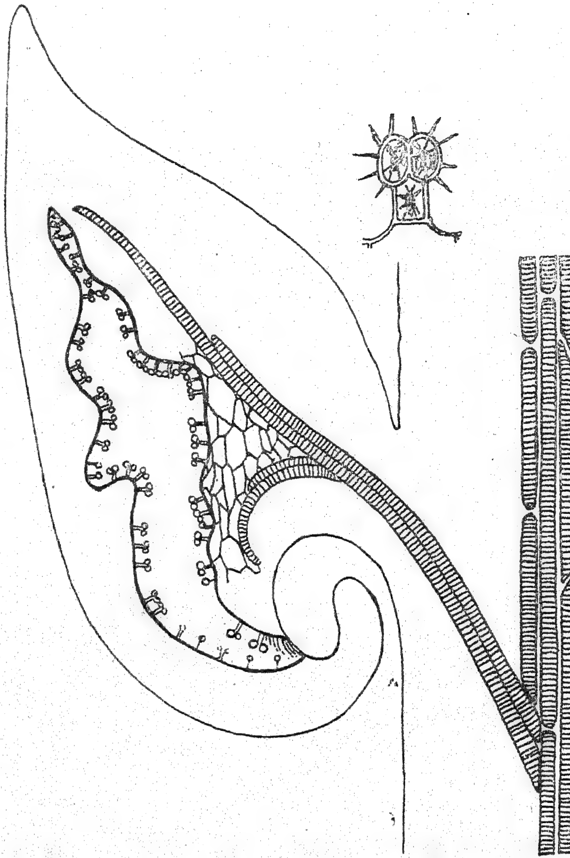




चि० ३—रदनपर्णी
(ऊपर) शाख का एक भाग; (नीचे) उसी के कत्तल का चित्र।

शिकार पचाने में जो समय लगता है, वह शिकार के डील-डौल पर निर्भर रहता है। प्रायः इस क्रिया में पत्ती को एक सप्ताह या पखवाड़ा लग जाता है, पर कभी-कभी इससे कम या अधिक दिनों में भी यह क्रिया समाप्त होती है। अगर शिकार में पकड़ा गया कीड़ा अधिक बड़ा हुआ और वह पूरा-पूरा पत्ती के अन्दर न बंद हो पाया तो वह बाहर फिसल भी जाता है, परंतु छोटे जीवों के लिए तो ये पत्तियाँ बंद होते ही कालकोठरी हो जाती हैं!

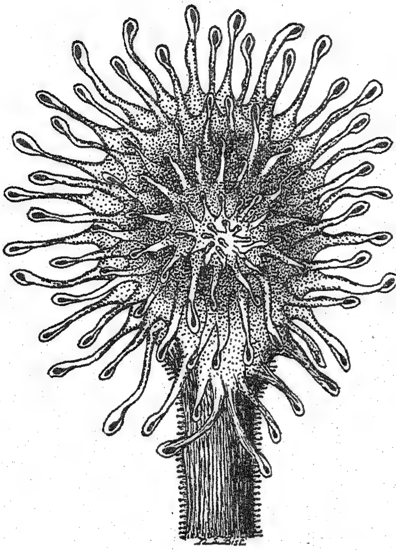
यद्यपि कपाटपर्णी और कनकपर्णी दोनों ही का पतिंगे फँसाने का ध्येय एक ही है, फिर भी इनके कीड़े पकड़ने के ढग में भेद है। कपाटपर्णी की पत्तियों में यह क्रिया अधिक सुभीते से होती है। उसमें प्रत्येक काम के लिए मानों अलग-अलग श्रम-विभाग है। उसमें दलों के बीचवाले रोम विशेषकर उत्तेजनीय होते हैं, जिनके स्पर्श मात्र से सम्पुट बंद हो जाता है। उसकी पत्ती की कोर पर के रोम शिकार को फिसलने से रोकते हैं और उसकी सतह पर की ग्रंथियाँ रस उँडेलकर शिकार को हज़म करती हैं। कनकपर्णी में ये सारी क्रियाएँ एक ही भाँति के रोमों द्वारा होती हैं।

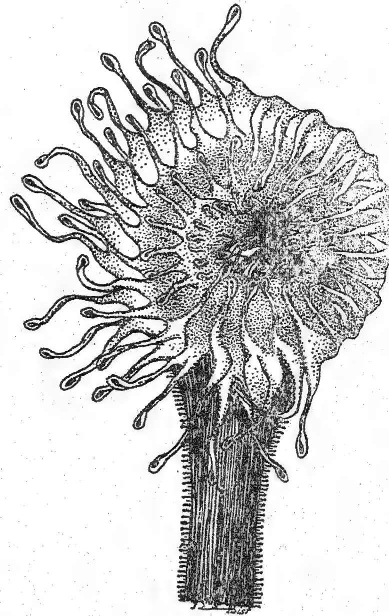


चि० ४—यह चि० ३ में प्रदर्शित रदनपर्णी की शाख के कत्तल के एक भाग का चित्र है, जो परिवर्द्धित करके दिखाया गया है। इन पत्तियों में विशेष जाति की सुरंगें बन जाती हैं जिनमें कीड़े आ घुसते हैं। यहाँ लसलसे रोम होते हैं, जिनमें वे फँस जाते हैं। इन सुरंगों में पाए जानेवाले सनाल रोमों में से एक का परिवर्द्धित चित्र ऊपर से अलग प्रदर्शित है।

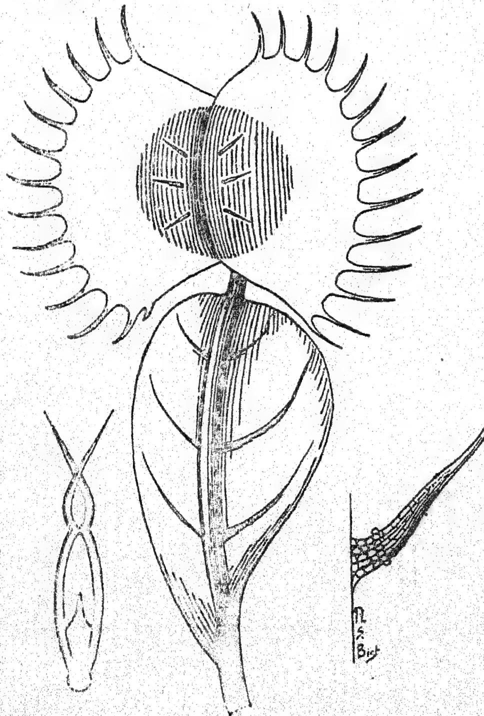
चोरगड्ढों की बनावट तथा कीड़े पकड़ने के व्यापार में कपाटपर्णी ही जैसा बड़ा भ्रंगी (*Aldrovandia*) (चि० ७) नामक एक और पौधा भी है। यह पुटकी जैसा जलवासी पौधा है, जिसकी भिन्न-भिन्न जातियाँ दक्षिणी योरप, आस्ट्रेलिया और हमारे देश के बंगाल प्रान्त में मिलती हैं। यह उथली झीलों और तालाबों में होता है। यह भी पानी पर तैरनेवाला जड़हीन पौधा है, जिसकी प्रत्येक पर्व से कई पत्तियाँ निकलती हैं। कपाटपर्णी की भाँति इसकी पत्ती में भी दृढ़ सदलक वृन्त और गोलाकार फलक होता है और उसी की तरह इसमें भी पत्रदल दो समान भागों में बँटा रहता है, जो खुली पुस्तक की भाँति एक दूसरे के प्रति ६०°–९०° का कोण बनाते हैं। पत्ती की मध्य-रेखा के सिलसिले में नतशिखर के ऊपर इसमें एक तीक्ष्ण शूलसम रोम होता है (चि० ८)। इसे मध्य-रेखा का आगे बढ़ा हुआ भाग कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ पत्रदल और वृन्त का जोड़ होता है, वहाँ भी दोनों ओर दो-दो काँटे जैसे रोम होते हैं। ये रोम भी पत्ती से आगे निकले रहते हैं और इन पर महीन-महीन काँटे होते हैं। इन काँटों के भय से बड़ी जाति के कीड़े इसकी पत्ती के पास नहीं आते। इसकी पत्ती की कोर ऊपर को उठी रहती है और उस पर बहुत-से छोटे-छोटे दाँत होते हैं। साथ ही पत्ती की सतह पर, विशेषकर प्रधान नाड़ी के आस-पास, अनेक नुकीले रोम और ग्रंथियाँ होती हैं। छोटे-छोटे जीव पानी के बहाव से या योंही घूमते-फिरते जब वहाँ आ पहुँचते है तब इनकी रगड़ से पत्ती के रोम उत्तेजित हो उठते है और उसके दोनों भाग कपाटपर्णी की पत्ती की तरह मुड़कर बंद हो जाते हैं (चि० ८), जिससे पत्ती पर रेंगने वाले जीव क़ैद हो जाते हैं। यदि कहीं आगंतुक जीव पत्ती के बीच वाले रोमों को छू गया तो यह क्रिया बड़ी तेज़ी से होती है। पत्ती की मुड़ी कोर और उसके किनारे वाले दाँते फँसे जीव को बाहर निकलने में बाधा पहुँचाते हैं। इसके पश्चात् की

क्रिया अर्थात् शिकार को हज़म करने और शोषण की क्रिया इस पौधे में किस भाँति होती है, इसका हमें ठीक-ठीक पता नहीं; परन्तु अन्त में कीड़ों का चलना-फिरना बंद हो जाता है और यदि लगभग १५ दिन बाद पत्रदल खोल-कर जाँच की जाय तो शिकार की ठठरी को छोड़कर उसके शेष अंगों का पता भी नहीं चलता! इससे स्पष्ट है कि इस पौधे में भी कीटाशी पौधों की तरह गलकर नाइट्रोजनीय द्रव्य का शोषण हो जाता है। नवनीतपर्णी (Butterwort) (चि० ६) इस वर्ग का अन्य एक पौधा है। इसकी लगभग चालीस जातियाँ हैं। कनकपर्णी की भाँति ये पौधे भी नम वातावरण में सोतों और चश्मों के निकट ही उगते हैं। इनमें पत्तियाँ पौधे के निचले भाग में होती हैं और ज़मीन पर बिछी रहती हैं। उनके किनारे कुछ-कुछ ऊपर को उठे रहते हैं और उन पर ऊपर की ओर ग्रंथियाँ होती हैं, जिनसे शहद-जैसा लस-लसा रस निकला करता है। कीड़ों तथा अन्य नाइट्रोजनीय द्रव्यों के स्पर्श से यह रस और भी तेज़ी से बह चलता है। इसके साथ ही साथ इन्हीं ग्रन्थियों से एक दूसरा रस भी आने लगता है, जो नाइट्रोजनीय वस्तुओं को पचा सकता है। पत्ती पर किसी कीड़े के आ बैठने पर वह बाहर की ओर से अन्दर की ओर मुड़ने लगती है, जिससे वह बेचारा बीच में आ पहुँचता है। ग्रन्थियाँ पत्ती के मध्य भाग में अधिक होती हैं और इसलिए वहाँ उस पर रस अधिक मात्रा में आ लगता है। इस पौधे की पत्ती में हरक़त बहुत धीमी गति से होती है। जब कीड़ा गलकर हज़म हो जाता है तब पत्ती फिर फैल जाती है।





चि० ५—कनकपर्णी की पत्ती और उसके रोम
(अ) बाईं ओर साधारण दशा में;
(ब) दाहिनी ओर शिकार के लिए उत्तेजित।



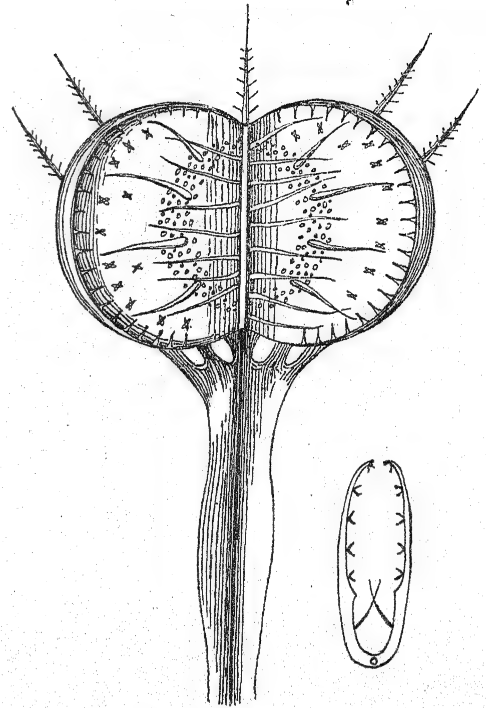
चि० ६—कपाटपर्णी की एक पत्ती
दाहिनी बाजू में संपुट के काँटों में से एक काँटा बड़े आकार में दिखाया गया है और बाईं ओर बंद संपुट के आड़े कत्तल का चित्र है।

यहाँ पर केवल संक्षेप में कीटाशी पौधों का उल्लेख किया गया है। यदि विचार करके देखा जाय तो इनके लक्षण बहुत-कुछ पशुओं से समानता रखते हैं। इस सम्बन्ध में कपाटपर्णी सबसे अधिक विचारणीय है। इसकी पत्तियों में स्पर्श मात्र से उत्तेजना हो उठती है और शिकार फँसने पर उसमें पाचक रस स्रवित होते हैं, जो उसे हज़म और जज़्ब करते हैं। फिर भी सभी हिंसक पौधों में वनस्पतियों की भाँति हरी पत्तियाँ होतीं और वे साधारण वनस्पतियों की भाँति ही कार्बन-संश्लेषण द्वारा

स्टार्च की रचना करते हैं तथा भूमि के लवणों के संयोग से प्रोटीन की भी रचना करते हैं।

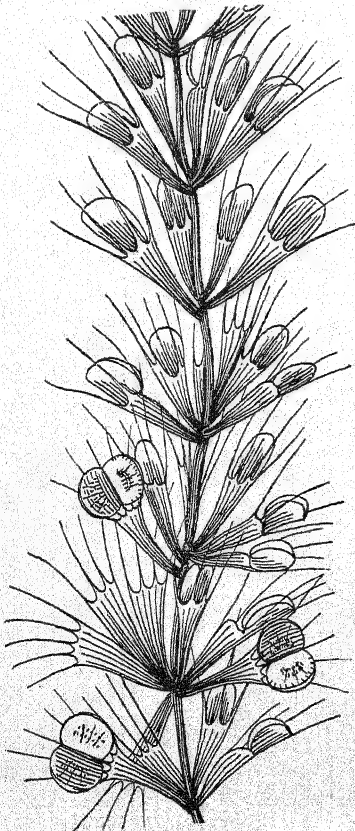
अब प्रश्न यह उठता है कि तो फिर बात क्या है कि ये पौधे वनस्पति-जगत् के सभी नियमों को तोड़कर अपनी कुल-मर्यादा के विरुद्ध पृथ्वी के खादों का आश्रय छोड़-कर इस प्रकार हिंसक वृत्ति धारणकर मांस, रुधिर, वसा जैसी वस्तुओं के प्रेमी बन गए ?

जैसा कि आपको स्मरण होगा प्राणियों के अंग का एक परम आवश्यक अंश नाइट्रोजन है। इसके बिना जीवन-मूल की रचना नहीं हो सकती। यद्यपि वायु में ७९ प्रतिशत के हिसाब से (अर्थात् १०० घनफ़ीट वायु में ७९ घन फ़ीट) नाइट्रोजन का अंश रहता है, फिर भी कुछ इने-गिने कीटाणुओं को छोड़कर शेष जीव इसका उपभोग नही कर सकते। वनस्पतियों को नाइट्रोजन खनिज लवणों ही से मिलती है और भूमि में इन लवणों की कमी ही बनी रहती है और पेड़-पौधे इसके लिए क्षुधित से रहते हैं।



चि० ८—बड़ी भंगी की एक पत्ती

दाहिनी ओर बंद संपुट के आड़े कत्तल का चित्र है।



चि० ७—बड़ी भंगी

भूमि में वनस्पतियों के काम आनेवाले नाइट्रोजन के खनिज नमकों की कमी को समझने में आपको विशेष कठिनाई न होगी। जैसा कि आप पहले ही देख चुके है, पेड़-पौधे सदैव इन नमकों को खींचते रहते और उनसे प्राप्त नाइट्रोजन और अन्य तत्त्वों के संयोग से प्रोटीन की रचना करते रहते हैं। समय पर पौधे भी मरते-खपते या जीव-जन्तुओं द्वारा नष्ट हो जाते है। इसी तरह जीव-जन्तु भी एक न एक दिन मरते और सड़ते-गलते हैं। इस क्रिया में जीवों के अंगों के कार्बनिक यौगिक कुछ विशेष कीटाणुओं के प्रभाव से अमोनिया और नाइट्रोजन में परि-वर्त्तित हो जाते हैं। वह नाइट्रोजन तो सीधे वायु में आ मिलती है, परन्तु अमोनिया या तो वायु में मिल जाती है या एक भाँति के दूसरे कीटाणुओं के संयोग से नाइट्रेटों में बदलकर भूमि में रह जाती है और इस भाँति फिर पौधों के काम आती है। भूमि में कुछ ऐसे भी कीटाणु हैं, जो नाइट्रेटों को अमोनिया में पलटकर वायु में मिलाते हैं। इस प्रकार निरन्तर एक नाइट्रोजन-चक्र चलता रहता है। नाइट्रेटों की विदारक क्रियाओं के कारण भूमि में नाइट्रोजन जैसे परम आवश्यक तत्व के उन नमकों की, जिनको वन-

स्पतियाँ काम में ला सकें, कमी पड़ जाती है, जिसके प्रभाव से पृथ्वी की सारी वनस्पति और जीव-सृष्टि के सामने नाइट्रोजन की कमी का प्रश्न सदैव बना रहता है। इसे हम नाइट्रोजन-समस्या कह सकते है।

कोई-कोई जीव ऐसे भी हैं, जिन्होंने इस जटिल प्रश्न को उत्तम प्रकार से हल कर लिया है। नाइट्रोजनग्राही कीटाणु इन्हीं जीवों में गिने जा सकते हैं। इन कीटाणुओं की प्रधानता यह है कि ये वायुमंडल की स्वतंत्र नाइट्रोजन को ही अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर काम में लाते हैं। इनमें से कुछ **बैसीलस एमाइलोबैक्टर** (*Bacillus amylobacter*), **अज़ोटो बैक्टर** (*Azotobacter*) की भाँति भूमि में स्वतंत्र रहते हैं और कुछ **बैसीलस रैडिसिकोला** (*Bacillus radicicola*) की तरह शिम्बी वर्ग (चना, मटर, मूँग-मसूर जैसे फलीवाले पौधे) तथा अन्य कुछ पौधों की जड़ों में गुत्थियों (tubercles) के अन्दर रहते हैं। ये कीटाणु भूमि के अन्तर्गत नाइट्रोजन को ऐसे नमकों में बदल देते हैं, जो पौधों के खाद्य हैं। इन कीटाणुओं के कारण ही शिम्बीवर्ग अथवा दूसरे गुत्थियों वाले पौधे नाइट्रोजन की कमी वाली भूमि पर भी ज़ोर पकड़ते हैं। प्रायः ऐसे पौधों को नाइट्रोजन की कमी पूरी करने के लिए साधारण नाइट्रोजनवाले खाद-पाँस के बजाय खेतों में बोते है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि इस अभिप्राय से बोई गई वनस्पतियों को फूल-फल आने के पूर्व ही जोतकर खेतों में सड़ा-गलाकर मिट्टी में मिला देना चाहिए।



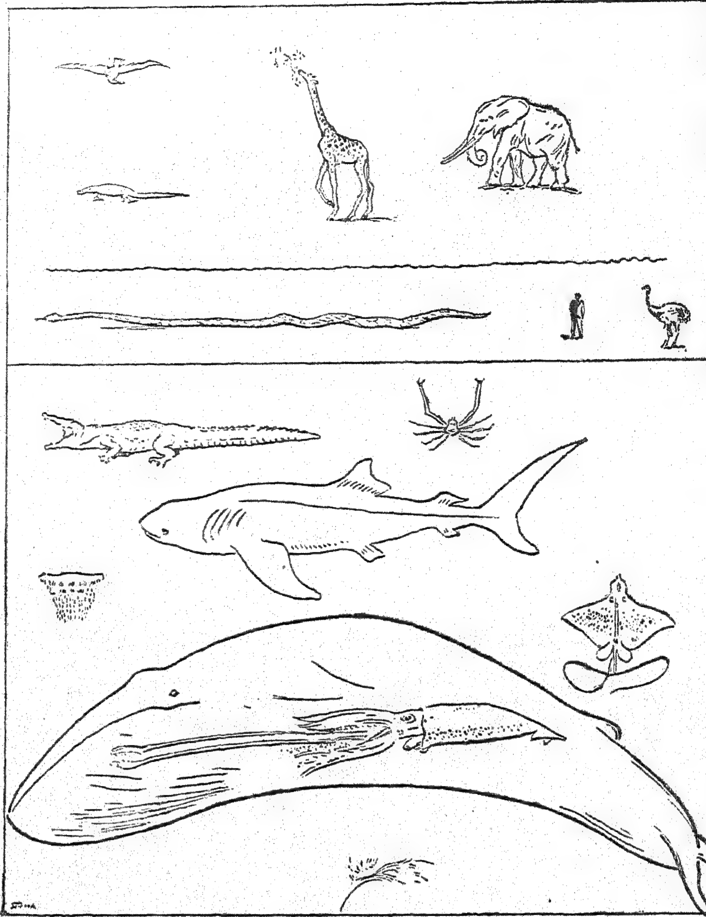
चि० ६—नवनीतपर्णी

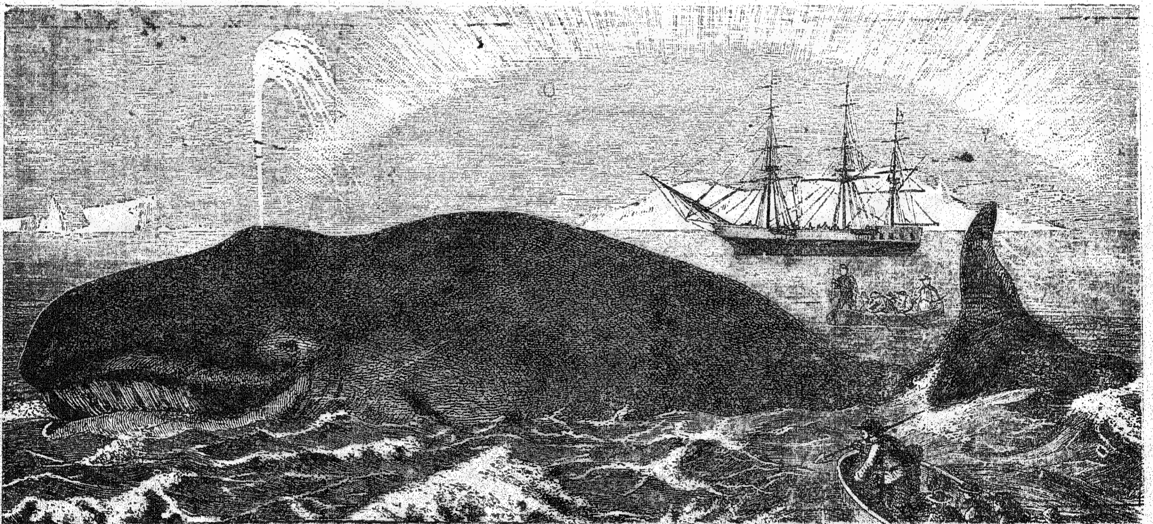
इसकी लगभग चालीस जातियाँ हैं। कनकपर्णी की भाँति ये पौधे भी नम वातावरण में सोतों और चश्मों के निकट ही उगते हैं। इनमें पत्तियाँ पौधे के निचले भाग में होती हैं और ज़मीन पर बिछी रहती हैं। उनके किनारे कुछ-कुछ ऊपर को उठे रहते हैं और उन पर ऊपर की ओर ग्रंथियाँ होती हैं, जिनसे शहद-जैसा लसलसा रस निकला करता है। पत्ती पर किसी कीड़े के आ बैठने पर वह अन्दर की ओर मुड़ने लगती है, जिससे वह बेचारा फँस जाता है।

कीटाशी पौधों ने नाइट्रोजन-समस्या को अपने विचित्र जीवन द्वारा हल कर लिया है। जिस परिस्थिति में ये उगते हैं, उसमें इन्हें भूमि से नाइट्रोजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाती। यही कारण इनके इस पैशाचिक कर्म का समझा जाता है; परन्तु सबसे आश्चर्य्य की बात जो कि समझ में नहीं आती है वह यह है कि इनको यह पता कैसे चलता है कि जिसकी इन्हें इतनी क्षुधा है, वह नाइट्रोजन पतिंगों के शरीर में अधिक मात्रा में उपस्थित है! जो कुछ भी हो, ऐन्द्रिय व्यापार के विचार से कीटाशी पौधों की कीड़ों-मकोड़ों के शरीर में खाद्यद्रव्य ग्रहण करने की क्रिया केवल नाइट्रोजन-प्राप्ति का असाधारण ढंग ही समझा जा सकता है। यही कारण है कि इस संबंध में इतनी चर्चा की गई है। डार्विन की कीटाशी पौधों की पुस्तक में इनका सविस्तर वर्णन है।

हिन्सक पौधों की कभी-कभी अद्भुत कहानियाँ सुनने में आती हैं। ऐसी कहानियों में प्रायः विशाल हिंसक पेड़ों द्वारा कुत्ते, हिरण अथवा ऐसे ही पशुओं की दर्दनाक हत्या का विस्तृत वर्णन रहता है। इन्हें हमें केवल "सहस्ररजनीचरित्र" जैसे उपन्यासों की गल्पें ही समझना चाहिए, क्योंकि यथार्थ में न तो ऐसे वृक्ष देखे गए हैं और न इनके होने की सम्भावना ही है।

जंतु-जगत् के वर्त्तमान महाकाय प्राणियों में से मुख्य-मुख्य के आकारों की तुलना





जंतु-जगत् का वर्त्तमान सबसे बड़ा प्राणी—ह्वेल

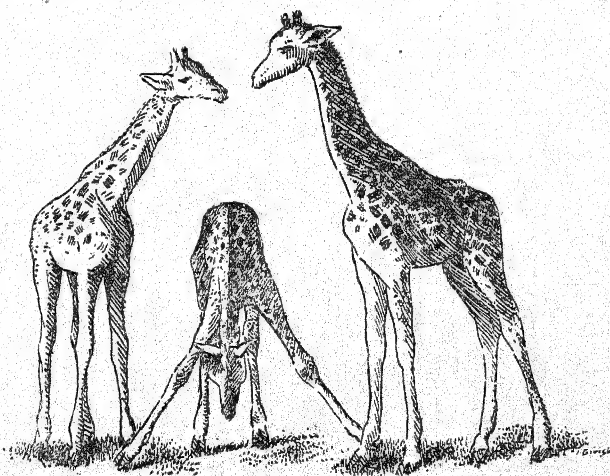
यह भीमकाय जानवर जलचर होता है, स्थलवासी नहीं! तथापि यह हमारी ही तरह स्तनपोषी वर्ग का प्राणी है। संस्कृत में इसे 'तिमिंगल' कहते हैं। इसकी लंबाई साधारणतया ८५ से १०० फ़ीट तक होती है!



जन्तु-जगत् के वर्त्तमान महाकाय जीव

पिछले किसी लेख में हम आपका परिचय उन विशालकाय जीवों से करा चुके हैं, जो अब पृथ्वी से लुप्त हो गए हैं। प्रस्तुत प्रकरण में वर्त्तमान महाकाय जन्तुओं के विषय में कुछ रोचक बातें बतलाई जाएँगी और उनकी छोटाई-बड़ाई के प्रति आपका ध्यान आकर्षित किया जाएगा।

यह तो सब कोई जानते हैं कि पृथ्वी के सबसे बड़े जीव पृष्ठवंशियों में हैं, परन्तु अपृष्ठवंशियों में भी कुछ ऐसे बड़े जीव हैं, जिनका कदाचित् ही आपको ज्ञान हो। क्या आपने किसी ऐसे घोंघा-वंशज के विषय में सुना है, जिसका भार लगभग ८० मन हो, या ऐसे किसी घोंघे को आप जानते हैं, जो गौरैया के अंडे के बराबर अंडा देता हो? अथवा आँतों में रहनेवाले किसी ऐसे कृमि से भी आप परिचित हैं, जिसकी लम्बाई ७० फ़ीट हो? साधारणतया शरीर की दृष्टि से अपृष्ठ-वंशियों से पृष्ठवंशी बड़े होते हैं, किन्तु कुछ सागर-वासी नीची श्रेणी के अपृष्ठवंशी जीव भेड़ के बराबर ऊँचे भी पाए गए हैं! छोटे-से-छोटा पृष्ठवंशी भी सबसे छोटे कृमि या कीट से कई सौ गुना भारी होता है! जानवरों के विभिन्न समूहों में डील-डौल की लघुता में उतना अन्तर नहीं पाया जाता जितना कि उनकी विशालता में। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुकोषी जीवों में प्रकृति ने कोषों की संख्या की एक सीमा निश्चित कर दी है, जिससे कम संख्या में उसकी रचना होना असम्भव है। नन्हें-से-नन्हें कृमि के शरीर में भी कई सहस्र कोष होते हैं, और छोटे-से-छोटे पृष्ठवंशी जीव का शरीर तो बिना कई लाख कोषों के बनना असम्भव और व्यर्थ है। यह अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है कि कीट-जैसा जटिल जीव भी किस हद तक छोटा हो सकता है! संसार में ऐसे छोटे कीट भी मौजूद हैं, जिनमें दो जटिल आँखें, तीन जोड़ टाँगें, धारीदार माँस-सूत्र, मस्तिष्क, वात-संस्थान, उत्पादक-संस्थान, पोषण-संस्थान इत्यादि होते हुए भी जो आकार में मनुष्य के डिम्बकोष से भी छोटे होते हैं!



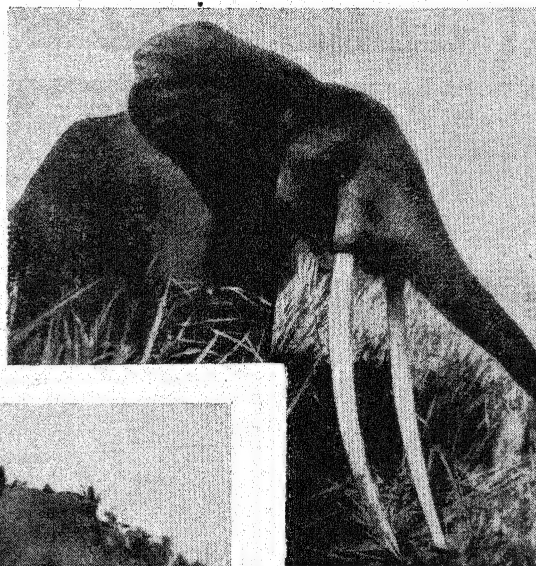
संसार के सबसे ऊँचे प्राणी जिराफ़ों का एक समूह

यह जानवर २० फ़ीट तक ऊँचा होता है—इतना अधिक ऊँचा कि चरने या पानी पीने के लिए यह ज्यों-का त्यों खड़ा रहते हुए अपनी लंबी गर्दन को झुकाकर धरती तक अपना मुँह नहीं पहुँचा पाता। अतएव वह अगली टाँगों को टेढ़े-मेढ़े ढंग से चौड़ी फैलाकर ज़मीन तक मुँह ले जाता है (देखिए चित्र में बीचवाला जिराफ़)।

पृथ्वी का सबसे बड़ा और भारी जीव—ह्वेल

पृथ्वी के सबसे बड़े प्राणी जलचर हैं, स्थलचर नहीं, और वे एक प्रकार के स्तनपोषी जीव हैं, जिन्हें ह्वेल कहते हैं। इनकी कई जातियाँ हैं। इनमें सबसे बड़ी रौरक्वाल या नीली ह्वेल है, जो साधारणतया ८५ फ़ीट लम्बी होती है। एक बार मलाबार के तट पर इसी जाति की एक १०० फ़ीट लम्बी ह्वेल पाई गई थी। यह ह्वेल ग्रीनलैंड की ह्वेल से भी अधिक लम्बी-चौड़ी होती है। ग्रीनलैंड की ह्वेल की लम्बाई ६० फ़ीट से ८० फ़ीट तक होती है और मोटाई लगभग ४० फ़ीट। यदि इससे आपको ह्वेल के दीर्घ शरीर की विशालता का अनुमान न हो तो

उसके भार पर तनिक ध्यान दीजिए। उसका भार लगभग ४२०० मन तक पहुँचता है! यदि आप किसी ऐसी तराज़ू की कल्पना कर सकें जिसके एक पलड़े पर इतनी ही भारी ह्वेल रक्खी जा सके तो दूसरे पलड़े पर उसके संतुलन के लिए डेढ़-डेढ़ मनवाले २८०० मनुष्यों की आवश्यकता पड़ेगी! अर्थात् उस पलड़े पर एक मेला-सा लग जायगा! जानवरों में ह्वेल का मुँह सबसे बड़ा होता है। उसके जबड़ों की लम्बाई १६ फ़ीट के लगभग और चौड़ाई लगभग ७ फ़ीट होती है। दो लम्बे आदमी उसके भीतर एक दूसरे के ऊपर सीधे खड़े हो सकते हैं! जब ह्वेल अपने मुँह को फैलाती है तो उसमें १२ फ़ीट ऊँचा एक द्वार-सा खुल जाता है और उसके मुँह की गुफा में सवारियोंसहित एक छोटी-मोटी नाव सुविधा से प्रवेश कर सकती है! इन विशालकाय ह्वेलों के सम्मुख स्थल का सबसे बड़ा प्राणी हाथी भी बच्चे के समान जान पड़ता है। स्थल-निवासी पृष्ठ-वंशियों का शरीर टाँगों की हड्डियों के कारण अधिक बड़ा नहीं हो सकता। हड्डी की वज़न साधने की शक्ति उसकी मोटाई पर निर्भर है और थोड़े-से विचार से ही आप समझ सकते हैं कि यदि किसी पशु के समस्त शरीर का भार टाँगों ही को साधना पड़े तो उसकी हड्डियों का बोझ उसके शरीर के सम्पूर्ण बोझ की अपेक्षा अधिक बढ़ता जायगा। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि जीवित पेशियाँ और रक्त एक सीमा तक ही सहारा देनेवाले अवयवों को गति दे सकते हैं और उनका पोषण कर सकते हैं। जल में रहनेवाले जन्तुओं के साथ यह कठिनाई नहीं है। उनमें हड्डियों की आवश्यकता बोझ को साधने के लिए नहीं होती, बल्कि वे केवल एक टेक और ढाँचे का काम देती हैं। जल के कारण ह्वेल के भारी शरीर को वैसा ही सहारा मिल जाता है जैसा हाथी को भूमि पर अपनी टाँगों से मिलता है। ह्वेल को यदि स्थल पर जीवन व्यतीत करना पड़ता तो उसको अपना शरीर साधने के लिए कितनी मोटी टाँगों की आवश्यकता होती, इसका अनुमान सहज नहीं है। इतना विशाल शरीर होने पर भी ह्वेल उतनी ही फुर्ती से तैरती, ग़ोता लगाती और ऊपर आती है, जैसे कि एक छोटी-सी मछली करती है। तात्पर्य यह है कि जलवासी पृष्ठवंशियों के शरीर स्थल-वासियों की अपेक्षा बहुत बड़े हो सकते हैं। और इन जलवासियों के डील-डौल उनकी आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त भोजन मिलने और उनकी पाचन-शक्ति पर निर्भर हैं।





स्थलचर प्राणियों में सबसे विशाल—हाथी

यह जानवर जंगली दशा में केवल अफ़्रीका और भारत में ही पाया जाता है। अफ़्रीका और भारत के हाथी की शक्ल में काफ़ी अंतर होता है। प्रस्तुत चित्र में ऊपर अफ़्रीका का हाथी दिखाया गया है और नीचे भारतीय हाथी। दोनों के कान, माथा आदि की तुलना करके आप उनका अंतर देख सकते हैं।

संसार का सबसे ऊँचा प्राणी—जिराफ़

जिराफ़ हाथी से भी अधिक ऊँचा होता है। उसको सृष्टि का सबसे ऊँचा जन्तु होने का गर्व प्राप्त है और उसका रूप भी (जैसा कि चित्र को देखने से ज्ञात होगा) अजीब है। जन्तु-जगत् के किसी भी प्राणी से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती। उसको देखने से यह बोध होता है कि प्रकृति

ने उसे ऊँट, हिरन और बैल तीनों के अंगों के एक अनोखे सम्मिश्रण का उदाहरण करके रचा है। कदाचित् आपने उस बुढ़िया की कहानी सुनी हो, जिसने एक जंतुशाला में पहले-पहल जिराफ़ को देखकर कहा था, "क्या यह असली जानवर है ? मुझे तो विश्वास नहीं होता !" सम्भव है कि आप भी पहले-पहल इस विचित्र जीव को देखकर यही विचार करेंगे क्योंकि वास्तव में वह ऐसा ही है। उसकी लम्बी-पतली टाँगों, अत्यन्त लम्बी गर्दन, हास्यजनक छोटे-छोटे सींग और बड़ी-बड़ी भूरी आँखों को ध्यान से देखिए। दौड़ते समय तो वह और भी अजीब दिखाई देता है। उस समय वह अपनी पिछली टाँगों को सामनेवाली टाँगों के आगे डालता है और अपनी लम्बी गर्दन को नीचे-ऊपर कर एक अजीब मसखरे ढंग से हिलाता जाता है।

जिराफ़ इतना ऊँचा होता है कि यदि एक दूसरे पर दो हाथी भी खड़े हो जायँ तब भी वह उनके ऊपर गर्दन ऊँची कर सकता है। उसकी ऊँचाई १९ या २० फ़ीट होती है और हाथी के समान वह भी झुंडों में रहा करता है। जिराफ़ अफ्रीका के मध्य भागों में ही पाया जाता है। उसकी लम्बी गर्दन और चित्तीदार नारंगी रंग उसको वहाँ के बबूल के जंगलों में रहने में विशेष सहायता देते हैं। उसे इन वृक्षों की पत्तियाँ बहुत प्रिय हैं, परन्तु वे भूमि से काफ़ी ऊँचाई पर होती हैं। कहा जाता है कि जिराफ़ युगों से अपनी गर्दन उन पत्तियों तक पहुँचाने की चेष्टा करता रहा, इसी-लिए धीरे-धीरे उसकी गर्दन लम्बी होती गई, यहाँ तक कि उसने अपना वर्त्तमान रूप धारण कर लिया।

जिराफ़ के मनोहर रंग की उपयोगिता का वर्णन एक प्रसिद्ध शिकारी गौर्डन कोमिंग ने बहुत अच्छा किया है। हम उसके कुछ शब्द यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। "मुझे जान पड़ता है कि सृष्टि को सुशोभित करने के लिए जो नाना प्रकार के जीव रचे गए हैं उनमें और उनके निवास-स्थानों के दृश्यों में कुछ अद्भुत समानता है। उदाहरण-स्वरूप जिराफ़ ही को ले लीजिए। वह अफ्रीका के बड़े पुराने जंगलों में रहता है, जहाँ बहुत-से हरे और सूखे वृक्ष होते हैं। मैं प्रायः वहाँ पहुँचकर धोखा खा जाता था। मैंने अपने जंगली नीग्रो साथियों की भी परीक्षा की, परन्तु वे भी भ्रम में पड़कर दूर से जिराफ़ को कभी पेड़ का तना समझते थे और कभी वृक्षों के तनों को जिराफ़ बतलाते थे!" इससे स्पष्ट है कि उसके शरीर का हल्का नारंगी रंग और उस पर पड़े हुए धूमिल धब्बे वृक्षों की छाया में उसे अदृश्य बना देते हैं और शत्रुओं से उसकी रक्षा करने में सहायक होते हैं।

स्थल का सबसे भारी जन्तु—हाथी

जिस प्रकार जिराफ़ स्थल के जीवों में सबसे ऊँचा होने का गर्व कर सकता है वैसे ही हाथी को धरती के प्राणियों में सबसे विशाल होने का गौरव प्राप्त है। सभी लोग जानते हैं कि उसके एक विचित्र सूँड़ होती है, जिससे वह हाथ का काम लेता है। वह उससे वृक्ष की शाखाओं को तोड़कर नीचे नहीं गिराता, बल्कि उसे ऊँची उठाकर उससे ही अपने चारे को उठाकर मुँह में रख लेता है। प्यास लगने पर उसी में पानी भरकर वह मुँह में उँडेल लेता है। उससे वह जहाँ भारी-भारी



जानवरों का सम्राट्—सिंह

वज़न में छः मन का होने पर भी जो बिजली की तरह हाथियों तक पर आक्रमण करता है।

शहतीरों तक को उठाकर इधर-से-उधर रख देता है, वहाँ पैसे-जैसी नन्ही-सी वस्तु को भी उठाकर अपने महावत को पकड़ा देता है !

आजकल हाथी केवल अफ्रीक्रा और दक्षिणी एशिया में ही पाए जाते हैं। हम भारतवासी हाथी को देखकर सहज ही बतला सकते हैं कि वह देशी है अथवा विदेशी। अफ्रीका का हाथी भारतीय हाथी की अपेक्षा बड़ा और बलवान् होता है और उसके कान बहुत बड़े होते हैं। जब वह उन्हें पीछे को मोड़ लेता है तो उसके कन्धे बिलकुल ढक जाते हैं। सूँड़ पर ग़ौर करने से भी दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। अफ्रीका के हाथी की सूँड़ के छोर पर नीचे और ऊपर दो उँगलियाँ-सी निकली रहती हैं। एशियाई हाथी में उसकी ऊपरी छोर पर केवल एक ही उँगली-सी होती है। इसके अतिरिक्त अफ्रीकावाले हाथी की पिछली टाँगों में तीन-तीन उँगलियाँ-सी होती हैं और एशियावालों में चार-चार। अफ्रीका का सबसे ऊँचा हाथी ११ फ़ीट ८॥ इंच तक ऊँचा नापा गया था और एशिया के हाथियों में अब तक जो सबसे ऊँचा मिला है वह १० फ़ीट ६ इंच ही ऊँचा था। हाथियों का शिकार उनके बहुमूल्य दाँत के लिए किया जाता है। नर और मादा दोनों ही में दाँत होते हैं, किन्तु मादाओं में वे छोटे ही रह जाते हैं और मुँह के बाहर निकले नहीं दिखलाई पड़ते। हाथी का एक-एक दाँत ११-११॥ फ़ीट तक लम्बा पाया गया है, जिसका कि भार २ मन से कुछ ही कम था। हाथी-दाँत की बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ, जैसे चूड़ियाँ, बिलियर्ड की गेंदें, शतरंज के मोहरे, खिलौने इत्यादि बनाये जाते हैं।



अमेरिका का यह भूरा भालू, जो 'ग्रिज़ली बेअर' कहलाता है, एक भयंकर जीव होता है। यह एक अजीब ढंग से मछलियों का शिकार करता है।

दरियाई घोड़ा और गैंडा

हाथी के बाद सबसे भारी स्थलचर जानवर दरियाई घोड़ा या हिप्पोपोटेमस है, जो अपनी छोटी-सी दुमसहित १६ फ़ीट लम्बा होता है। हिप्पो चर्बी और मांस का ऐसा भंडार होता है कि उसके पेट के घेरे का नाप लगभग उसकी लम्बाई के ही बराबर होता है। पूर्ण जवान हिप्पो ऊँचाई में तो लगभग ५ फ़ीट का ही होता है, परन्तु उसका बोझ लगभग ११२ मन होता है। स्थल के प्राणियों में सबसे बड़ा मुँह हिप्पो को ही प्राप्त हुआ है। उसमें दो भयानक फाड़नेवाले दाँत होते हैं। मुँह खोलने पर उसकी आकृति बड़ी डरावनी होती है।

हिप्पो दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका के अतिरिक्त दुनिया में और कहीं नहीं पाया जाता। इस विशाल जन्तु को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उसको पृथ्वी पर चलने-फिरने में अवश्य ही कठिनाई होती होगी, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वह स्थल पर मनुष्य के बराबर ही दौड़ सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह अपना समय अधिकतर पानी में ही व्यतीत करता है।

गैंडा भी हाथी और हिप्पो के समान एक भारी-भरकम पशु है। इसकी दो उपजातियाँ भारतवर्ष में भी मिलती हैं। गैंडे की नाक पर एक या दो विचित्र सींग होते हैं। इस सींग का स्थान जैसा अनोखा है वैसी ही उसकी रचना भी अद्भुत है। अन्य पशुओं के सींगों के समान उसमें हड्डी नहीं होती। वह एक बहुत मोटे और लम्बे बाल की नाईं खाल से उगता है। एशिया में मिलनेवाले गैंडों में एक सींग-वाला भारतीय गैंडा सबमें बड़ा होता है। उसकी ऊँचाई कंधे तक ६ फ़ीट होती है। जनरल किनलौख़ ने एक बार एक ऐसा गैंडा मारा था जिसकी लम्बाई दुम को छोड़कर ८ फ़ीट १ इंच थी। अफ्रीका का गैंडा भारतीय गैंडे से बड़ा और भारी होता है। उसके शरीर का बोझ ८० मन से भी अधिक होता है। उसकी दो जातियाँ मिलती हैं; एक काली और दूसरी श्वेत। श्वेत गैंडा कभी-कभी १२ फ़ीट लम्बा और ६ फ़ीट ऊँचा तक देखने में आया है।

जंगल का राजा—सिंह

उपर्युक्त बड़े डील और मोटी खाल वाले सब जीव शाकाहारी हैं। अब आइए, मांसाहारियों में सबसे विशाल पशु जंगल के सर्दार शेर बबर का आपको परिचय दें, जिसको जन्तुओं का राजा भी कहते हैं। शेर बबर अब गुजरात को छोड़कर सिर्फ़ अफ्रीका में ही पाया जाता है, किन्तु कुछ समय पहले वह अरब, पूर्वी योरप और मध्य एशिया में भी मिलता था। वह ७ फ़ीट या इससे

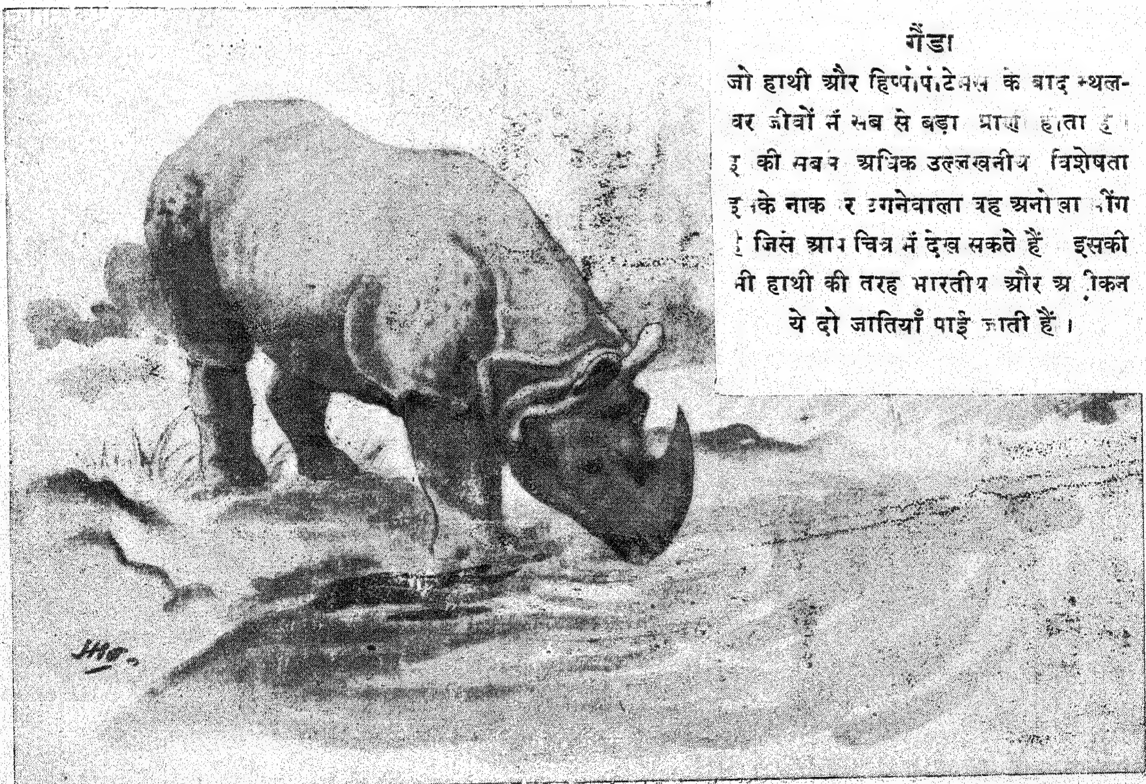
भी अधिक लम्बा होता है और उसकी दुम लगभग गज़ भर लम्बी होती है। उसका भार ६ मन के लगभग होता है। बबर शेर की गर्दन अत्यन्त भयप्रद होती है। रात के सन्नाटे में जब वह घने वन में गरजता है तो छोटे-बड़े सभी जीव भय से काँप उठते हैं। बलवान से बलवान बैलों और भैंसों के ऊपर छलाँग मारकर वह जा कूदता है और उनकी गर्दन में अपने तीक्ष्ण दाँत घुसेड़ देता है, जिससे विवश होकर वे तत्काल ही धराशायी हो जाते हैं। सृष्टि का कोई भी जीव उसके शारीरिक बल की समता नहीं कर सकता। उसकी शान्त और गम्भीर आकृति, राजसी चाल एवं अतुलनीय बल और पौरुष जानवरों की दुनिया में उसके उच्च पद के प्रमाण हैं। बाघ या चीता भी ऊँचाई में शेर के बराबर ही होता है। उसकी लम्बाई ६ या १० फ़ीट होती है और शरीर का भार ५-६ मन से कम नहीं होता। उसकी अगली टाँगों का घेरा २ फ़ीट के लगभग होता है और गर्दन वृक्ष के तने के समान मोटी होती है। ऐसा विशाल जन्तु तड़पकर जब गाय, बैल, हिरन आदि पर आक्रमण करता है तो उसके धक्के से ही वे मूर्छित हो जाते हैं। बाघ सिंह की भाँति अपने पंजों से थप्पड़ नहीं मारता। वह दोनों पंजों से शिकार को जकड़ लेता है और तब अपने दाँतों से उसे चीर-फाड़ डालता है।

एक ओर तो ऐसे-ऐसे दीर्घकाय स्तनधारी हैं और दूसरी ओर बहुत से ऐसे छोटे और हलके शरीरवाले स्तनधारी भी इस पृथ्वी पर विराजमान हैं, जैसे कि चूहा और छछूँदर। इनमें से कोई-कोई का तो ४-६ इंच से अधिक बड़ा शरीर प्राप्त नहीं होता। एक ही वर्ग में कोई जीव मनों भारी है तो कोई कठिनता से २-३ छटाँक का ही है। ऐसा क्यों है? यह प्रकृति का एक रहस्य है जिसका जानना मानव की शक्ति से परे है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि पशुओं के शरीर में कुछ ऐसी नलिकाविहीन ग्रन्थियाँ हैं, जिनके प्रभाव से उनके शरीर की वृद्धि और बड़ाई-छोटाई निश्चित होती है।

सबसे बड़ा पक्षी—शुतुरमुर्ग़

पक्षियों में सबसे बड़ा शरीर उन जीवों का ही है, जिन्होंने अपने को वायु-मंडल की सैर से वंचित रक्खा है, अर्थात् जो उड़ नहीं सकते। इनका विस्तृत वर्णन हम पहले के लेखों में कर ही चुके हैं।

इन्हीं में से सबसे बड़ा अफ्रीका के मैदानों में मिलनेवाला शुतुर्मुर्ग़ है, जो घोड़े से भी तेज़ दौड़ सकता है और अपना



गैंडा

जो हाथी और हिप्पोपोटेमस के बाद स्थल-चर जीवों में सब से बड़ा प्राणी होता है। इसकी सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता इसके नाक पर उगनेवाला वह अनोखा सींग है जिसे आप चित्र में देख सकते हैं। इसकी भी हाथी की तरह भारतीय और अफ्रीकन ये दो जातियाँ पाई जाती हैं।

मज़बूत टाँगों और पैने नखों से चौपायों की-सी कड़ी ठोकर मार सकता है। दौड़ते समय वह एक छलाँग में २५ फ़ीट तक की दूरी पार कर डालता है! वह ऊँचाई में कभी-कभी ८ फ़ीट तक पहुँचता है और उसका बोझ ३॥ मन से भी अधिक होता है। उसका अंडा लगभग १॥ सेर भारी होता है!

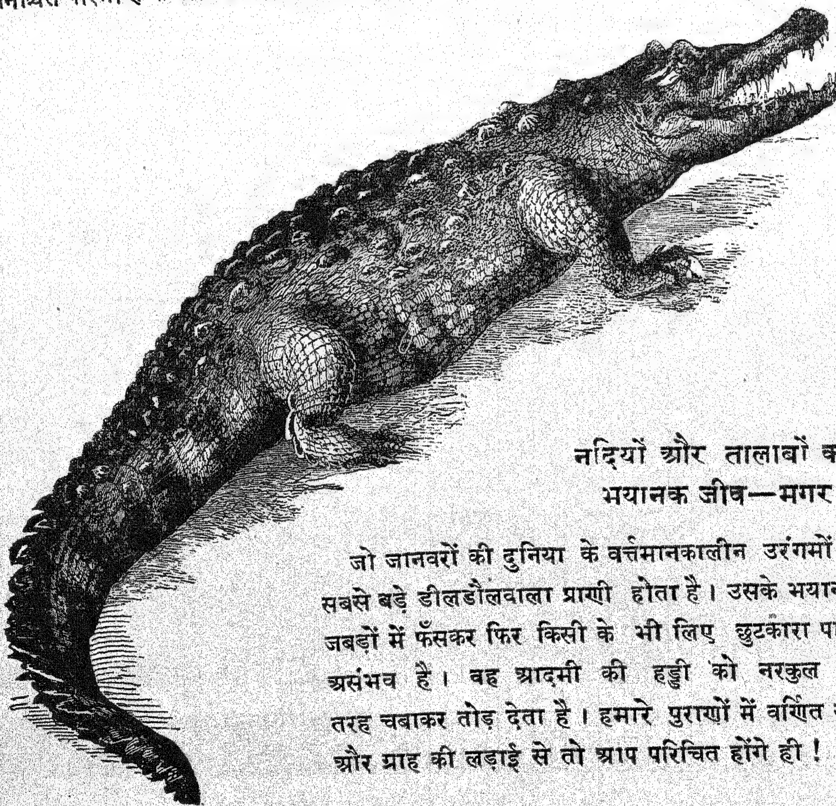
उड़नेवाले पक्षियों में सबसे बड़ा और ज़बरदस्त प्राणी सुनहला उक़ाब है, जो शिकारी पक्षियों का राजा माना जाता है। यह उत्तरी गोलार्द्ध में ही मिलता है। इसके परों का फैलाव ६ फ़ीट और चोंच से दुम तक की लंबाई ३ फ़ीट होती है। अपनी वीरता और उच्च पद के कारण ही बहुत-से प्राचीन और अर्वाचीन राज्यों के झंडों पर उसे स्थान मिला है।

इन बड़ी चिड़ियों के मुक़ाबले में दूसरी ओर अनेकों अत्यन्त नन्ही-नन्ही चिड़ियाँ भी मिलती हैं, जिनमें सबसे छोटी जाति की चिड़ियाँ अमेरिका में पाई जाती हैं। उन्हें भिनभिनानेवाली चिड़िया या शक्करख़ोर कहते हैं। इनमें से कोई-कोई लम्बाई में ३ इंच से भी छोटी होती हैं, परन्तु चमकदार और चटकीले रंगों की सुन्दरता में वे संसार के सब पक्षियों से बढ़कर हैं।

उड़नेवाली चिड़ियाँ वायु के गति-संबंधी कारणों से एक निश्चित परिमाण से अधिक बड़े शरीरवाली नहीं होतीं। वही चिड़ियाँ डील-डौल में बड़ी हो सकी हैं; जिन्होंने कि अपने पंखों और उड़ने की शक्ति का त्याग कर दिया है। इसीलिए पंखोंवाले फ़रिश्तों का होना वास्तव में जीव-विज्ञान की दृष्टि से असम्भव है। पंखों को फड़फड़ानेवाली प्रेरक शक्ति के लिए औसत शरीर के फ़रिश्ते के लिए भी इतनी बड़ी छाती की हड्डी और मांस-पेशियों की आवश्यकता होगी जो कि उसके सीने से ४ फ़ीट आगे को निकली रहे!

सबसे बड़ा सर्प—अजगर

उरंगमों में भी अजगर-जैसे भारी सर्प, बड़े-बड़े कछुए और ऐसे बड़े-बड़े गोह आदि पाए जाते हैं, जिन्हें देखकर आप आश्चर्य में पड़ जायँगे। अजगरों में कोई-कोई ३० फ़ीट या इससे भी अधिक लम्बे और एक स्वस्थ मनुष्य की जाँघ से भी अधिक मोटे होते हैं। इनके विषय में यात्रियों द्वारा बहुत-सी कथाएँ प्रचलित हुई हैं। रोमनों के ज़माने में कहा जाता था कि एक दैत्याकार सर्प ने किसी हाथी को गला घोंटकर मार डाला था! अजगर कितने बड़े जानवर खा लेता है, इस विषय में लोगों ने बहुत-सी ऐसी बातें हाँकी हैं। उनके द्वारा पूरे क़द के बैल निगल लिये जाने की बात सरासर झूठ है। हाँ, बड़ी-बड़ी जंतुशालाओं में कभी-कभी अजगरों को सुअर के बच्चे तथा छोटी बकरियाँ खाने को दी जाती हैं। एक समय एक भारतीय अजगर ४ फ़ीट लम्बा तेंदुआ खाते देखा गया था। डाक्टर बार्नेट ने लिखा है कि उन्होंने स्वयं बोआ जाति के ११ फ़ीट के एक अजगर को एक जवान हिरन को, जिसके सींग न निकले थे, खाकर अचेत पड़े हुए देखा था। ऐसे बड़े जीवों को निगलकर अजगर उन्हें एक सप्ताह या दस दिन में हज़म कर डालता है। इन साँपों की एक विशेषता यह है कि वे बिना खाए भी बहुत दिनों तक जीवित रह सकते हैं। प्रसिद्ध ही है कि 'अजगर करे न चाकरी!'



नदियों और तालाबों का भयानक जीव—मगर

जो जानवरों की दुनिया के वर्तमानकालीन उरंगमों में सबसे बड़े डीलडौलवाला प्राणी होता है। उसके भयानक जबड़ों में फँसकर फिर किसी के भी लिए छुटकारा पाना असंभव है। वह आदमी की हड्डी को नरकुल की तरह चबाकर तोड़ देता है। हमारे पुराणों में वर्णित गज और ग्राह की लड़ाई से तो आप परिचित होंगे ही!

मगर और घड़ियाल

मगर और घड़ियाल वर्त्तमान उरंगमों में सबसे बड़े हैं। ये बड़ी-बड़ी नदियों में निवास करते हैं और मनुष्य के घोर शत्रु होते हैं। प्रायः नदी में नहानेवालों को अपनी बाँह या टाँग उनको अर्पण करना पड़ती है। पानी पीते हुए चौपायों को ये कभी-कभी टाँग पकड़कर घसीट ले जाते हैं और उस समय तक पानी में दबाये रहते हैं जब तक कि वे मर न जाएँ। उनके जबड़ों की पकड़ ऐसी कड़ी होती है कि जो वस्तु उनके मुँह में आ जाती है, उसका छूटना असम्भव है। ये साधारण मनुष्य को सुगमता से निगल सकते हैं। अफ्रीका और भारतवर्ष में नदियों पर पानी भरने जानेवाली स्त्रियों का प्रायः मगर द्वारा घातक अन्त हो जाना कोई असाधारण घटना नहीं है। मगर की सबसे बड़ी जाति हिन्दमहासागर में—बंगाल की खाड़ी से लेकर ऑस्ट्रेलिया के तट तक—पाई जाती है। इसकी लम्बाई ३३ फ़ीट तक पाई गई है। अमेरिका का सबसे बड़ा मगर अमेज़न नदी में पाया जाता है, किन्तु वह २० फ़ीट से अधिक बड़ा नहीं होता। नील नदी में मिलनेवाले अफ्रीका के मगर १५ फ़ीट लंबे होते हैं और भारतीय मगर प्रायः १२ फ़ीट के।

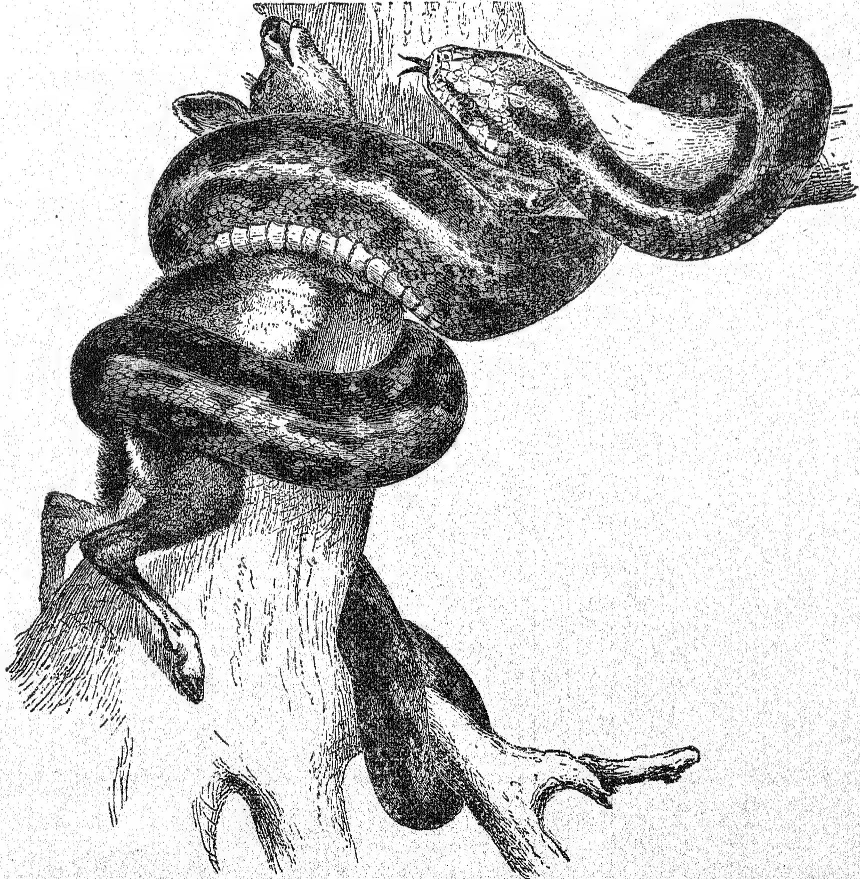
छिपकलियों का राजा

छिपकलियों की भी एक बहुत बड़ी जाति डच पूर्वीय द्वीपसमूह के कोमोडो नामक द्वीप में पाई जाती है, जो ८ या ९ फ़ीट लम्बी होती है। प्राचीन काल की बड़ी-बड़ी छिपकलियों और गोहों के ये बचे-खुचे नमूने ही अब रह गए हैं। इनकी संख्या बहुत कम है, इसलिए इनकी बड़ी रक्षा की जाती है। जहाँ तक हमें मालूम है, इनके केवल चार ही प्रतिनिधि अभी तक पकड़-कर जन्तुशालाओं में लाए गए हैं।

मेढ़क और मछलियों में भी अत्यन्त नन्हें से लेकर बहुत बड़े-बड़े जीव पाए जाते हैं। मेढकों में सबसे बड़ा अफ्रीका महाद्वीप के कैमेरून नामक वनों में पाया जाता है। वह छोटे कुत्ते के बराबर होता है! उसके बाद अमेरिका के 'बुल' मेढ़क का नम्बर आता है, जो खाया भी जाता है। संयुक्त राज्य (अमेरिका) में बेचने के लिए इनको पाला भी जाता है!

संसार की सबसे बड़ी मछलियाँ

सागरों में प्रायः ऐसी बड़ी-बड़ी मछलियाँ पाई जाती हैं, जिनका विश्वास करना सहज नहीं है। सबसे बड़ी जाति



संसार का सबसे बड़ा सर्प —अजगर

यह भयंकर प्राणी ३० फ़ीट तक लंबा और एक तगड़े मनुष्य की जाँघ से भी ज़्यादा मोटा पाया जाता है। यह हिरन जैसे बड़े जीवों को भी समूचा ही निगल जाता है। देखिए प्रस्तुत चित्र में किस प्रकार पेड़ से लिपटकर उसने एक पशु को जकड़ रक्खा है!

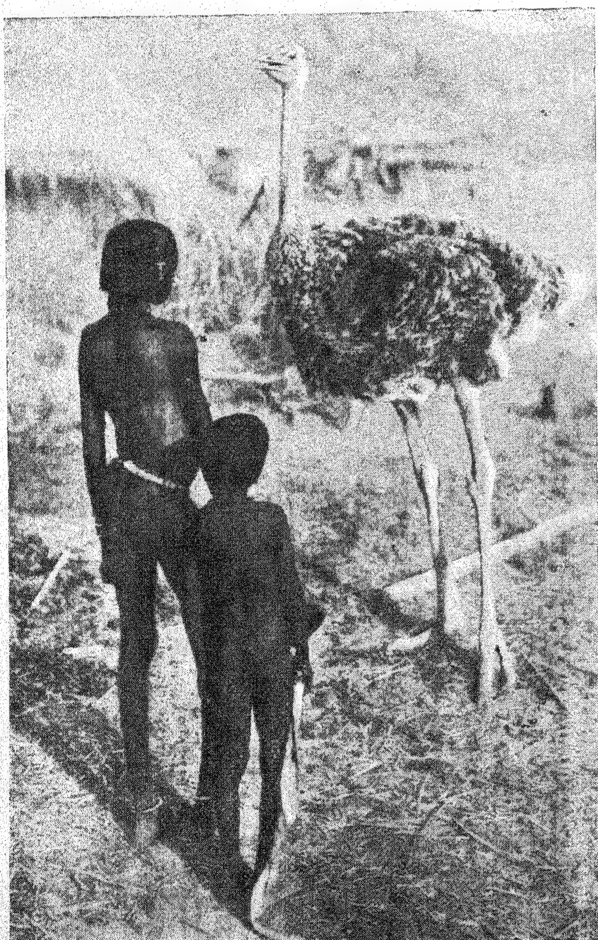
की मछलियाँ शार्क और रे के नाम से प्रसिद्ध हैं। शार्कों में सबसे बड़ी ह्वेल शार्क है, जो ७५ फ़ीट तक लम्बी पाई गई है और १२५ मन या उससे भी अधिक भारी होती है। ज़रा सोचिए तो सही कि उसके ७००० दाँत उसको कैसा भयंकर जीव बना देते होंगे! इससे छोटी एक शार्क नर-संहारक होती है और मनुष्य के अतिरिक्त बड़े-बड़े समुद्री जानवरों पर भी आक्रमण करती है। वह ४० फ़ीट से भी अधिक लम्बी होती है और देखने में बड़ी डरावनी लगती है। 'रे' या सिकची नामक मछली अपने डैनों सहित १५ फ़ीट चौड़ी होती हैं और वज़न में ५५ मन तक पाई गई है। ये बड़ी मछलियाँ दिन में समुद्र-तल में बालू में आधी गड़ी हुई पड़ी रहती हैं, किन्तु रात होने पर बालू झाड़कर वे इधर-उधर समुद्री चमगादड़ों की तरह तैरने लगती हैं।

बड़े अपृष्ठवंशी

अपृष्ठवंशियों के संसार में भी बड़े और छोटे दोनों ही प्रकार के जीव पाए जाते हैं, किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, पृष्ठवंशियों के समान बड़े जीव इनमें नहीं होते। इनमें सबसे बड़े डीलवाले जीवधारी मृदुलांगी समुदाय के कुछ जन्तु घोंघा, सीप, शंख इत्यादि हैं, जिनसे आप परिचित हो चुके हैं। सबसे बड़े मृदुलांगी समुद्र में रहते हैं और वे तैरते भी ख़ूब हैं। इनकी एक जाति, जो अंग्रेज़ी में "स्क्विड" नाम से प्रसिद्ध है, एटलान्टिक महासागर में मिलती है, जिसकी भुजाओं की लम्बाई ३० फ़ीट तक पाई गई है। इसकी भुजाओं में बहुत से चूषक बने रहते हैं, जिनसे वे अपने शत्रु या शिकार को पकड़ लेते हैं। इन्हीं की एक जाति अष्टपाद है, जो कभी-कभी बहुत ही विशालकाय होते हैं। आस्ट्रेलिया का बड़ा अष्टपाद बहुत ही भयंकर होता है। उसकी भुजाओं का फैलाव ४० फ़ीट तक होता है और उनपर पैसे से लेकर बड़ी रकाबी जितने बड़े कोई २५०० चूषक होते हैं। ये जीव सहज में ही समुद्री पनडुब्बों के प्राण ले सकते हैं और उनके बल और निष्ठुरता के विषय में बहुत-सी भयानक कहानियाँ लिखी गई हैं। एक बार का ज़िक्र है कि सिंगापुर के बन्दरगाह में कोई एक पनडुब्बा एक बड़े स्क्विड के उन दिनों वहाँ रहने के कारण जल में नहीं उतरता था।

मृदुलांगियों के बाद सबसे भारी अपृष्ठवंशी सीलैन्ट्रेट वर्ग में पाए जाते हैं। इनमें समुद्री एनीमोन और मूँगा उत्पन्न करने वाले जन्तु भी शरीक हैं। उत्तरी महासागर में पाए जानेवाले जेली-मत्स्य—जो वास्तव में मछली नहीं होते—इसी समूह के नर्म गुदगुदे जीव हैं, जिनका अधिकांश शरीर पानी से भरा रहता है। इनका बोझ १३-१४ मन तक होता है।

इनके पश्चात् खंडपदीय (जोड़दार पैरवाले) जीवों की बारी आती है, जिनमें कीड़े, मकोड़े, कीट झींगे, केकड़े इत्यादि शरीक हैं। इस वर्ग में नन्हें-नन्हें केकड़ों से लेकर जापान के विशालकाय मकड़ी-केकड़े तक (जो लगभग २५-३० सेर भारी होते हैं) पाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी समूहों में अत्यंत



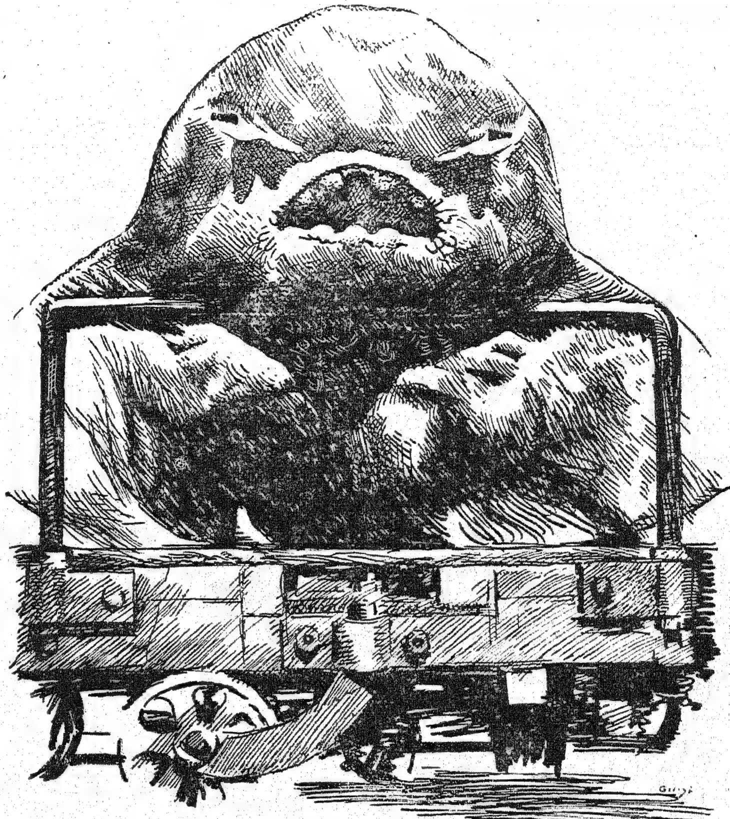
पक्षियों की दुनिया का सबसे बड़ा जानवर—शुतुर्मुर्ग

यद्यपि यह एक पक्षी है, परन्तु उड़ने में यह बिलकुल असमर्थ है। इसके विपरीत यह दौड़ता इतनी तेज़ी से है कि सरपट दौड़नेवाले घोड़े को भी मात कर सकता है। यह पक्षी अफ्रीका के मैदानों में पाया जाता है और वहाँ पाला भी जाता है।

बड़े और अत्यन्त छोटे जीव देखने में आते हैं। प्राणियों की आँतों के अन्दर रहनेवाला सबसे बड़ा कद्दूदाना कृमि ७० फ़ीट से भी लम्बा होता है, परन्तु उसका शरीर फ़ीते की तरह चपटा और पतला होने के कारण उसका बोझ अधिक नहीं होता। ब्रह्मा और दक्षिणी भारत में गज़ भर लम्बे और मनुष्य की बाँह जैसे मोटे केंचुए पाए जाते हैं। स्थान की कमी के कारण इन सबका वर्णन न करके इस विषय के एक और पहलू की ओर अब हम आपका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

पतिंगे बड़े क्यों नहीं होते ?

जोड़दार टाँगोंवाले जीवों की खाल कड़ी होती है, इसीलिए उन्हें बढ़ने के लिए अपनी केंचुली बदलनी पड़ती है। यह बात वल्कवाले जीव तथा कीटों में विशेष रूप से लागू होती है। इसलिए जब तक परदार कीटों और पतिंगों के पर नहीं निकलते, तभी तक वे बढ़ सकते हैं, क्योंकि परों के बहुत पतले होने के कारण उनकी केंचुली नहीं बदली जा



दैत्याकार 'रे' या सोखची मछली

यह भीमकाय मछली अपने इस प्रकार के भयभीत करनेवाले स्वरूप के कारण अंग्रेज़ी में 'डेविल फ़िश' (Devil Fish) के नाम से पुकारी जाती है। अपने डैनों सहित यह मछली १५ फ़ीट चौड़ी होती है। प्रस्तुत चित्र में दिग्दर्शित गाड़ी पर लदे हुए नमूने का वज़न ५२ मन के लगभग था, इसीलिए इसे उठाकर ले जाने के लिए एक बड़ी-सी गाड़ी की जरूरत पड़ी थी! किन्तु इतने बड़े आकार की होने पर भी यह मनुष्य के लिए ख़तरनाक नहीं है, क्योंकि इसके मुँह में शार्क जैसे दाँत नहीं होते।

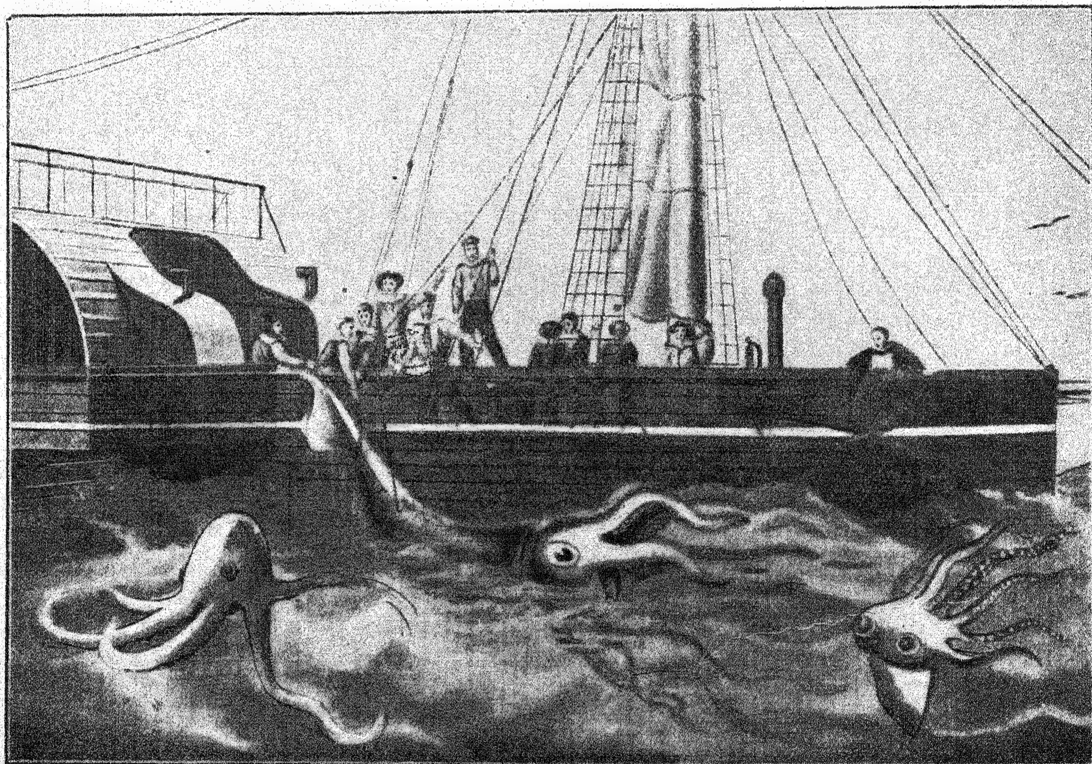


दुनिया की सबसे बड़ी छिपकली

बड़ी गोह या छिपकली जैसे जिस जीव की तस्वीर बाईं ओर दी गई है वह पूर्वीय द्वीपसमूह के कमोडो द्वीप में पाया जाता है। इसीलिए इसे 'कमोडो ड्रेगन' कहते हैं। इसकी लंबाई ८ या ९ फ़ीट होती है और देखने में इतना भयानक होने पर भी यह मनुष्य के लिए ख़तरनाक नहीं होता। अब इस जीव के कुछ ही नमूने बचे रह गए हैं।

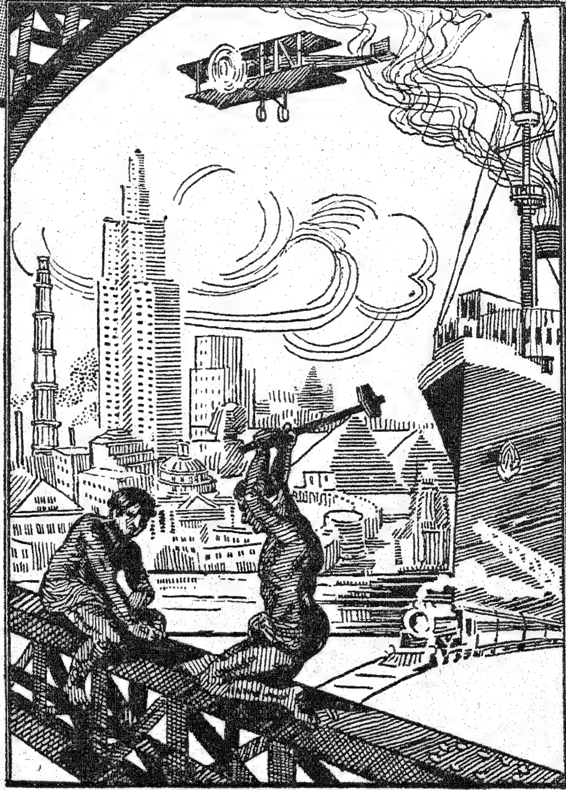
सकती। परवाले जीवों के अधिक नहीं बढ़ सकने का यह एक प्रमुख कारण है। इनके अधिक बड़े शरीर न प्राप्त कर सकने का दूसरा कारण यह भी है कि साँस लेने के लिए इन जीवों के फेंफड़े नहीं होते, वरन् वायु इनके सारे अंगों में सूक्ष्म नलिकाओं द्वारा जाती है। साँस लेने का यह प्रबन्ध बड़े शरीरों के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इस रीति से वायु को सारे शरीर में फैलने में बहुत देर लगती है। रक्त द्वारा शरीर में श्वासोच्छ्वास की क्रिया बहुत जल्दी हो जाती है, परन्तु कीटों में ऐसा नहीं होता।

प्रकृति ने बहुत-कुछ सोच-विचार करके ही कीटों की ऐसी रचना की है, अन्यथा जीवन के संग्राम में कोई और प्राणी उन पर विजय न पा सकता। जब हम विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि जन्तु-जगत् में मनुष्य के सबसे हानिकारक शत्रु न तो उसे खा लेनेवाले शेर और चीते हैं न उसे जल में घसीट ले जानेवाले मगर और घड़ियाल इत्यादि ही, वरन् यही छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े हैं, जो परिश्रम से उपजाई गई कृषि को नष्ट करके उसे लाखों रुपयों का नुक़सान पहुँचाते हैं। अनाज को काटकर गोदामों में भर देने पर भी ये हानि करने से नहीं चूकते! बहुत-से प्राण-घातक रोग, जिनके कारण लाखों मनुष्य प्रति वर्ष मृत्यु के मुँह में चले जाते हैं, विभिन्न प्रकार के कीटों द्वारा ही फैलते हैं। ज़रा सोचिए कि यदि ये छः टाँगवाले फ़ुर्तीले मानव-शत्रु आकार में कहीं चूहे या बिल्ली के बराबर बढ़ जाते तो न केवल पृष्ठवंशियों के लिए ही, बल्कि क्या छोटे और क्या बड़े सभी जानवरों के लिए विकास की सीढ़ी पर आगे बढ़ना कितना असम्भव हो जाता और मानव-जाति उस परिस्थिति में इस वर्त्तमान उच्च पद पर पहुँच सकती या नहीं यह कौन कह सकता है!

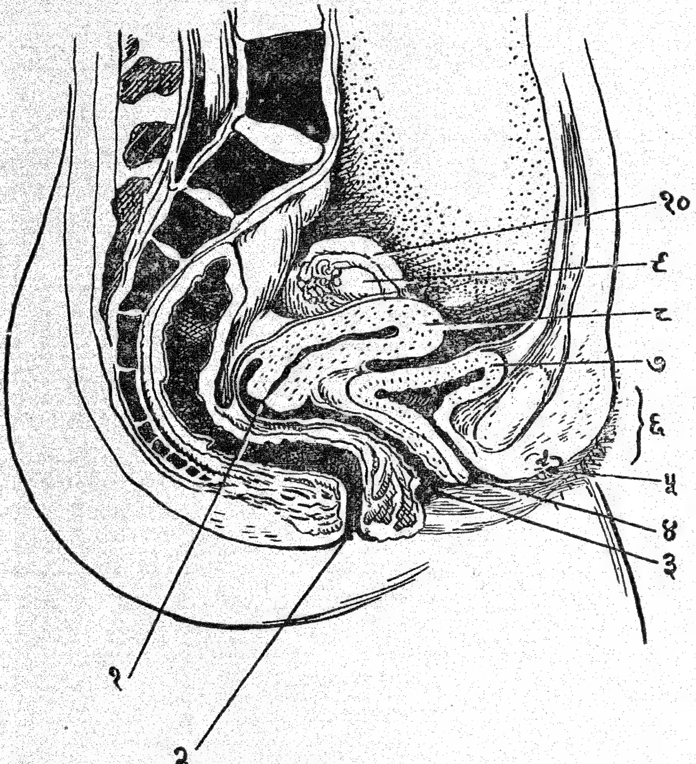


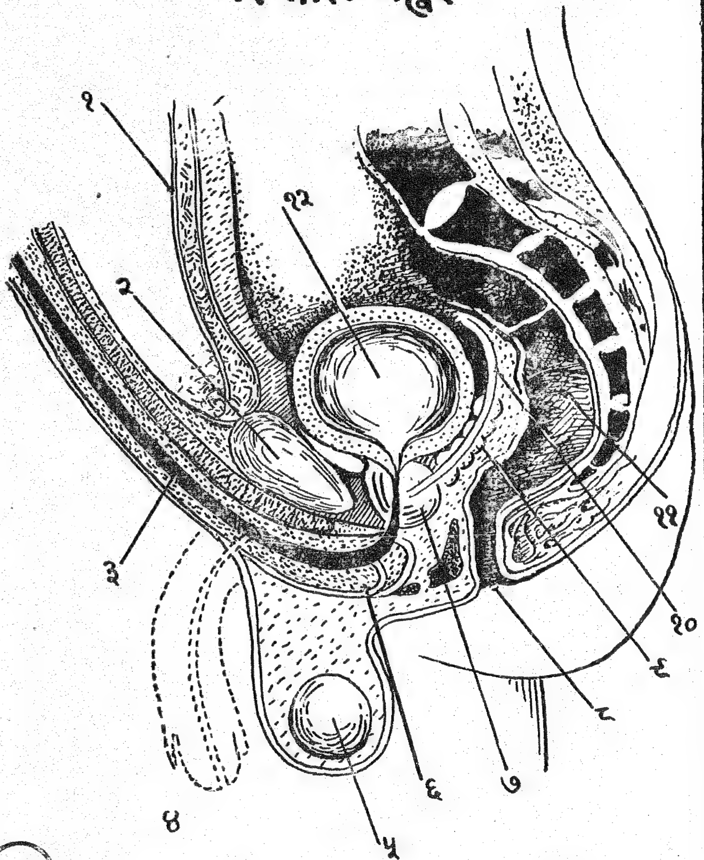
अपृष्ठवंशियों के वर्ग का एक दैत्याकार प्राणी—'स्क्विड'

यह जीव मृदुलांगी समुदाय के प्राणियों में सबसे बड़ा होता है। इसकी सूँड़ जैसी अत्यन्त भयानक भुजाओं की लंबाई ३० फ़ीट तक पाई गई है। इन भुजाओं में बहुत-से चूषक बने रहते हैं, जिनके द्वारा यह अपने शत्रु या शिकार को पकड़कर असहाय बना देता है। जैसा कि प्रस्तुत चित्र में आप देख सकते हैं, यह एक जलजीव है। यह बहुत तेज़ी के साथ तैर सकता है, परन्तु इसके संबंध में एक विचित्र बात यह है कि यह तैरते वक्त आगे की ओर बढ़ने के बजाय पीछे हटते हुए उलटा तैरता है! चित्र की पृष्ठभूमि में इनका शिकार करनेवालों का एक जहाज़ दिखाई दे रहा है।

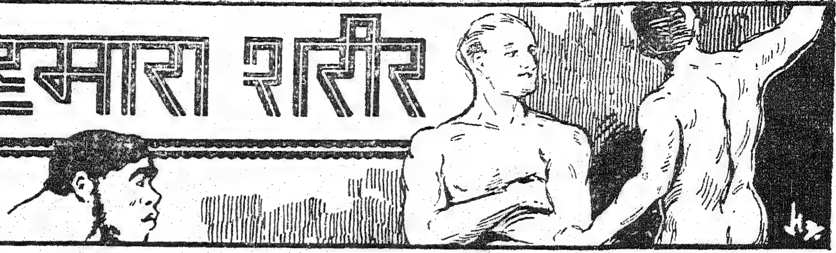


मनुष्य की कहानी





भाग १ में लंबाई के रुख़ कटा हुआ नारी-वस्तिगह्वर और भाग २ में नर-वस्तिगह्वर दिखाया गया है। दोनों में जननेन्द्रियों की स्थिति और भीतरी रचना प्रदर्शित है। (चित्र १) १. गर्भाशय का मुख; २. मलद्वार; ३. योनिद्वार; ४. मूत्रबहिर्द्वार; ५. भगनासा; ६. कामाद्रि; ७. मूत्राशय; ८. गर्भाशय; ९. डिम्ब-ग्रंथि; १०. डिम्ब-प्रनाली। (चित्र २) १. उदर की दीवार; २. विटप-संधि; ३. शिश्न (प्रहर्ष के समय दृढावस्था में)—बीच की काली रेखा मूत्रमार्ग है; ४. शिश्न (साधारण शिथिलावस्था में); ५. अंड; ६ मूत्रमार्ग का स्थूल भाग; ७. शिश्नमूल-ग्रंथि (प्रोस्टेट); ८ मलद्वार; ९. शुक्राशय; १० शुक्र-प्रनाली; ११. बृहत् अंत्र; १२. मूत्राशय।

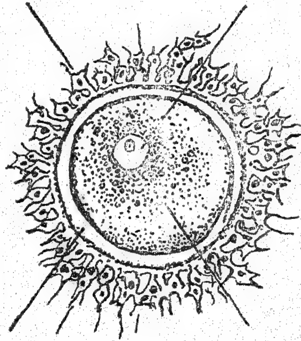


मनुष्य अपना उत्पादन कैसे करता है ?

१. हमारी जननेन्द्रियाँ और उनका कार्य

इस स्तंभ के अन्तर्गत पिछले कुछ प्रकरणों में हम आपको अपने विचित्र शरीर-यंत्र के कल-पुर्ज़े-रूपी कई महत्त्वपूर्ण अंगों की रचना और कार्य-प्रणाली के संबंध में आवश्यक जानकारी करा चुके हैं। अब आइए, इस देहरूपी मशीन के उन अनूठे अंगों का परिचय दें, जिनके द्वारा आपका जन्म हुआ है, साथ ही इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक प्रश्न का भी समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करें कि आख़िर हमारी उत्पत्ति क्योंकर होती है—किस प्रकार हम इस संसार में अवतीर्ण होते हैं ? यह विषय इतना गहन और लंबा है कि एक ही लेख में उस पर पूर्ण प्रकाश डालना संभव नहीं है, अतएव प्रस्तुत प्रकरण में हम मानवीय जनन-प्रणाली के प्रधान अंगों की रचना तथा उनके विविध कर्त्तव्यों का ही विवेचन करेंगे। तदनन्तर अगले लेख में मानव-शिशु के जीवन के आरंभिक नौ मास तथा उसके जन्म की कहानी सुनाएँगे।

यह तो आप जानते ही हैं कि मनुष्य-जाति शरीर-विज्ञान की दृष्टि से दो भिन्न प्रकार के प्राणियों से मिलकर बनी है—एक वे जिन्हें हम 'पुरुष' या 'नर' कहते हैं और दूसरे वे जिन्हें 'स्त्री' या 'नारी' के नाम से अभिहित किया जाता है। अपने जन्म के समय से ही इन दोनों वर्गों के प्राणियों के शरीर में कुछ ऐसे भेदसूचक लक्षण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, जिनसे वे स्पष्टतया एक-दूसरे से विभिन्न प्रतीत होते हैं, और एक छोटी-सी बालिका अथवा बालक के बढ़कर पूर्ण वयस्क होने पर न केवल वे जातीय भेदसूचक लक्षण और भी अधिक सुस्पष्ट हो जाते हैं, बल्कि इनके अलावा कुछ और नए भेद भी प्रकट होने लगते हैं। ग्यारह से चौदह वर्ष की आयु के बीच की अवधि में लड़के-लड़की दोनों ही में ऐसे कई महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन होने लगते हैं, जिनसे वे (कमसे कम शरीर की दृष्टि से,) बाल्यावस्था की सीमा को लाँघकर वयस्क स्त्री-पुरुषों में परिणत हो जाते हैं। वयस्कता की ओर क़दम बढ़ाने की यह अवस्था और उसकी कालावधि 'किशोरावस्था' (Adolescence) कहलाती है। इस अवधि में बालक-बालिका दोनों ही के जीवन में इतना अधिक रद्दोबदल हो जाता है कि प्रत्येक के संबंध में उसका अलग-अलग विवरण देना अधिक उपयुक्त होगा। तो फिर आइए, पहले लड़कियों का ही अध्ययन करें और फिर लड़कों का।



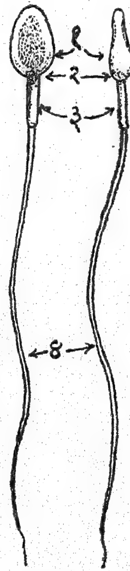
चित्र में बाईं ओर एक नारी-बीजकोश या डिम्ब, और दाहिनी ओर एक नर-बीजकोश या शुक्रकीट आकार की तुलना के लिए दिग्दर्शित है। डिम्ब का वास्तविक आकार ०.२ मिलीमीटर से भी कम होता है और शुक्रकीट तो उससे भी कई गुना छोटा होता है, किन्तु उन्हीं के संमिलन से ५॥ फ़ीट का आदमी पैदा हो जाता है !

बालिका से पूर्ण वयस्क स्त्री

जिस तरह सभी बच्चे ठीक एक ही उम्र में पैरों पर खड़े होकर चलना या बोलना नहीं सीखते, उसी प्रकार सभी लड़कियाँ भी एक ही उम्र में किशोरावस्था को पारकर यौवन की सीमा में प्रवेश नहीं कर जातीं। किसी लड़की में दस वर्ष की आयु में ही परिवर्त्तन का यह क्रम आरंभ हो जाता है तो कोई चौदह वर्ष की अवस्था में पहुँचने पर ही ऐसा अनुभव

करती है। सामान्यतः इस प्रकार के परिवर्त्तन की औसत आयु १२ या १३ वर्ष की मानी जाती है। जब इस परिवर्त्तन का समय समीप आने लगता है तो उसके शरीर में जो लक्षण सबसे अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है वह है उसके स्तनों का क्रमशः उभरकर दिन पर दिन बड़ा होते जाना और जब तक वह पूर्ण वयस्क नहीं हो जाती उनका बढ़ना लगातार जारी रहता है। साथ ही उसके शरीर का सामान्य डील-डौल भी तेज़ी से बढ़ने और बदलने लगता है। उसकी बाँहें और पिंडलियाँ अब अधिक गोल, सुडौल और भरी हुई दिखाई देने लगती हैं तथा नितम्ब भी बड़े और चौड़े होने लगते हैं, ताकि समय आने पर जब उसे मातृत्व का वरदान प्राप्त हो तो उसके शरीर में गर्भस्थ शिशु को रखने के लिए यथेष्ट स्थान उपलब्ध हो सके। इसके अतिरिक्त इस अवस्था में पहुँचकर एक और लक्षण उसके शरीर में स्पष्ट होने लगता है, अर्थात् उसके जघन-स्थल, काँख, आदि में अब बारीक़-बारीक़ रोम जमकर क्रमशः बढ़ने लगते हैं।

किन्तु केवल यहीं इस परिवर्त्तन का क्रम समाप्त नहीं हो जाता—वस्तुतः बाहरी अंगों के साथ-साथ उसके शरीर के भीतर के भी कुछ अंग अब तेज़ी से बढ़ने लगते हैं और फलतः कई नवीन बातें अब उसके शरीर में होने लगती हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि पिछले लेखों में मानव-शरीर के हृदय, अंत्र, पक्वाशय आदि-आदि, जिन विविध महत्त्वपूर्ण अंगों का परिचय आप पा चुके हैं, उनके अतिरिक्त स्त्रियों के शरीर में कुछ और भी विशेष अंग होते हैं, जो ऐसे कोशों का निर्माण करते हैं, जिनसे कि मनुष्य के संतान पैदा होती है। ये विशिष्ट उत्पादक अंग सामान्यतया प्रत्येक लड़की के शरीर में जन्म से ही रहते हैं, परन्तु वे अपना काम करने के लिए तैयार तभी जाकर होते हैं जब कि कन्या की आयु ग्यारह से चौदह वर्ष के लगभग हो जाती है। इसके उपरान्त उन अंगों का पूर्ण विकास होने में लगभग चार से छः वर्ष तक का समय और लग जाता है। यही कारण है कि अब इस बात पर विशेष रूप से ज़ोर दिया जाने लगा है कि लड़कियों का विवाह तब तक न किया जाय जब तक कि वे कम-से-कम सोलह से बीस वर्ष तक की आयु की न हो जायँ, ताकि इस अवधि में उनके ये अंग पूर्ण रूप से विकसित हो सकें।



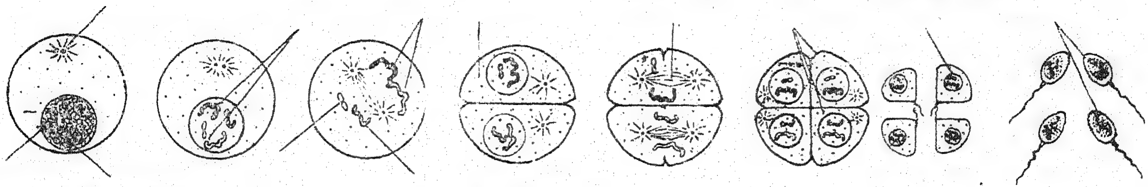
शुक्राणु

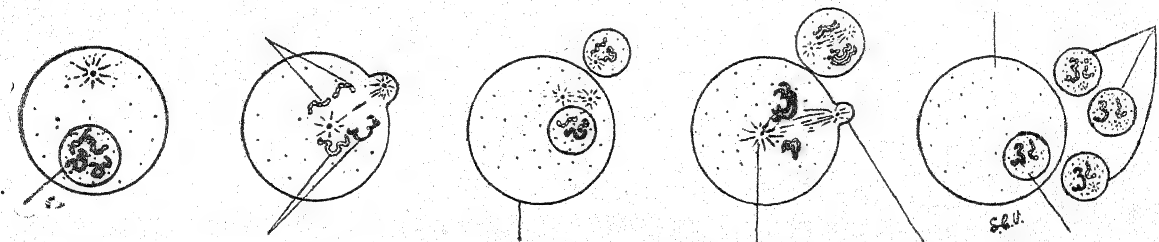
प्रस्तुत चित्र में एक शुक्रकीट को १३०० गुना बड़ा दिखलाकर उसका सामने और बग़ल का दृश्य दिग्दर्शित किया गया है। यद्यपि इसकी रचना केवल एक ही कोश द्वारा होती है, तथापि इसके सिर (नं० १), ग्रीवा (नं० २), धड़ (नं० ३), और पूँछ (नं० ४) आदि कई भाग होते हैं। यह एक अत्यन्त चंचल और क्रियाशील जीव-कोश होता है और अपने तरल माध्यम में सदैव दुम हिलाते हुए तैरता रहता है।

रजोदर्शन

किशोरावस्था को लाँघकर कन्या जब क्रमशः युवावस्था की ओर बढ़ने लगती है तो मानों इस बात को जाहिर करने के लिए कि उसके प्रजनन-संबंधी आन्तरिक अंगों ने उसके भावी दाम्पत्य-जीवन के हेतु तैयारी शुरू कर दी है, प्रति मास लगभग २८ दिनों के अंतर से उसकी गुप्तेन्द्रिय के मार्ग से कुछ तरल रक्त निकलना शुरू होता है, जिसे 'आर्त्तव' कहते हैं। कन्या को इस प्रकार पहले-पहल आर्त्तव निकलना 'रजोदर्शन' कहलाता है और तदनन्तर नियमित रूप से प्रति मास ऐसा ही जो रक्त-स्राव होता है, वह 'ऋतु' या 'मासिक धर्म' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्राकृतिक घटना का ठीक-ठीक महत्त्व और उसकी आवश्यकता आप तब समझ सकेंगे, जबकि जनन-प्रणाली की रचना और कार्य के संबंध में आपको ठीक-ठीक जानकारी हो जायगी।

प्रायः प्रथम बार ऋतुमती होने पर बहुतेरी लड़कियाँ घबड़ा जाती और अपनी मानसिक शान्ति खो बैठती हैं। वे सोचने लगती हैं कि उन्हें यह कोई एक रोग या बीमारी लग गई है और फलतः वे भयग्रस्त हो जाती हैं। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि ऐसी प्रत्येक लड़की को, जो कि रजोदर्शन की अवस्था के समीप पहुँच रही हो, उसकी माता, शिक्षिका या अन्य कोई बड़ी-बूढ़ी स्त्री आनेवाली घटना की पहले ही से जानकारी करा दे और उक्त नवीन अनुभव के लिए उचित रूप से तैयार कर उस अवस्था में स्वच्छता के विधि-निषेध-विषयक किन-किन नियमों का पालन करना चाहिएं यह भी बतला दे। जिन दिनों आर्त्तव निकलता रहता है, उन दिनों ऋतुमती कन्या या स्त्री साधारण दिनों की भाँति शरीर में चुस्ती का अनुभव नहीं करती और कुछ-कुछ मलिन या सुस्त हो जाती है। किन्तु कोई विशेष प्रकार





प्रस्तुत मानचित्र में 'अ' में एक साधारण देहकोश से क्रमशः चार नर-बीजकोश या शुक्राणुओं की रचना तथा 'ब' में उसी प्रकार देहकोश से नारी बीजकोश या डिम्बों की रचना का क्रम दिखाया गया है; साथ ही किस प्रकार बीजकोश में वर्णकणों की संख्या आधी रह जाती है उसका भी क्रम दिखाया गया है। ऊपर के चित्र (अ) में अंड के एक मूलकोश के विभाजन के फलस्वरूप अंत में चार शुक्रकीटों के उत्पादन की क्रमागत स्थितियाँ प्रदर्शित हैं। इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले शुक्राणुओं में से दो में बृहत् या X लिङ्ग वर्णकण हैं और दो में लघु या Y लिङ्ग वर्णकण हैं। नीचेवाले चित्र (ब) में दिखाया गया है कि किस प्रकार डिम्ब-ग्रंथि का एक मूलकोश कुछ अतिरिक्त डिम्बों (polar bodies) को बाहर त्यागकर क्रमशः एक परिपक्व डिम्ब में परिणत हो जाता है। इस प्रकार त्यागे गए अतिरिक्त डिम्बों में से पहला डिम्ब मातृकोश से बाहर फेंक दिए जाने पर दो भागों में बँट जाता है और फलतः अब मातृकोश के बाहर ऐसे अतिरिक्त डिम्बों की संख्या तीन हो जाती है, जैसा कि चित्र (ब) के दाहिने सिरे पर दिग्दर्शित है। अतएव हम यह देखते हैं कि जहाँ प्रत्येक शुक्रोत्पादक मातृकोश से चार क्रियाशील शुक्रकीटों की उत्पत्ति होती है, वहाँ प्रत्येक डिम्बोत्पादक मातृकोश से केवल एक ही क्रियाशील डिम्ब की रचना होती है, शेष त्याग दिए जाते हैं। मनुष्य-जाति की लाक्षणिक विशेषताओं के सूचक २४ जोड़े वर्णकणों में से प्रस्तुत मानचित्र में केवल एक ही जोड़ा दिखाया गया है। यहाँ एक और दिलचस्प बात की ओर हम आपका ध्यान दिलाना चाहते हैं और वह यह है कि डिम्ब सभी एक-जैसे होते हैं, परन्तु शुक्रकीट दो जाति के होते हैं—एक बृहत् लिङ्गवर्णकण से युक्त और दूसरे लघु लिङ्गवर्णकण से युक्त। यदि प्रथम जाति के शुक्रकीट का डिम्ब से सम्मिलन हो जाता है तो लड़का पैदा होता है और यदि दूसरी जाति के शुक्रकीट से डिम्ब का संयोग होता है तो लड़की।

का दर्द या और कोई शिकायत न हो तो इसमें चिन्ता करने की कोई बात नहीं है। वस्तुतः कन्या के मन पर यह बात दृढ़ रूप से जमा देना चाहिए कि किसी भी अर्थ में यह कोई बीमारी या रोग नहीं, बल्कि शरीर से कुछ निरर्थक मल-पदार्थ निकाल बाहर करने का प्रकृति का एक विशेष तरीक़ा मात्र है। जब लड़की नियम से प्रति मास ऋतुमती होने लगती है तब धीरे-धीरे उसका भय कम हो जाता है और कालान्तर में वह इतनी अभ्यस्त हो जाती है कि पहले ही से उसके आने का समय जानकर अपने आपको तैयार कर लेती है।

इन दिनों ऋतुमती के लिए यह बात ध्यान में रखने की है कि साधारण दिनों की अपेक्षा वह अपने

स्वास्थ्य की अधिक सावधानी रक्खे—अपने को सर्दी-जुक़ाम लगने से बचाए, कोई तरह का थका देनेवाला परिश्रम न करे और विशेषकर किसी भी प्रकार का भारी वज़न न उठाए। किन्तु इसके यह भी मानी नहीं कि वह उन दिनों अपने को एकदम रुग्ण बनाकर चारपाई ही पकड़ ले!

हमारे शरीर का निर्माण करनेवाले करोड़ों देहकोशों में कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें जीवन के नवसृजन का कार्य सिपुर्द रहता है। ये कोश "सन्तानोत्पादक बीजकोश" या "गैमेट" (Gametes) कहलाते हैं। पुरुष के बीजकोश आकार-प्रकार में स्त्री के ऐसे ही कोशों से काफ़ी विभिन्नता रखते हैं। पुरुष के बीजकोश 'शुक्राणु' (Sperms) और स्त्री के 'डिम्ब' (Ova) के नाम से पुकारे जाते है। स्त्री का बीजकोश या डिम्ब पुरुष के बीजकोश या शुक्राणु से आकार में बहुत बड़ा होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म शुक्राणु की तुलना में डिम्ब एक बड़े गोले जैसा प्रतीत होता है (देखिए पृष्ठ २४१३ का चित्र) और बिना सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता के ही नंगी आँखों से देखा जा सकता है। उसका व्यास इंच के १२५ वें अंश के लगभग होता है और उसके भीतर एक ओर को एक बड़ा-सा गोलाकार नाभिक (Nucleus) रहता है, जिसके अंतराल में एक या अधिक अणुनाभिक छिपे रहते हैं। इस डिम्बकोश का अधिकांश भाग एक प्रकार के चर्बीले पीतवर्ण द्रव्य से भरा रहता है, जोकि समय आने पर उक्त कोश के भावी विकास के लिए शक्ति की आवश्यकता पूर्त्ति करने में मानों ईंधन का काम देता है। पूर्ण रूप से विकसित प्रत्येक डिम्ब के आसपास एक मोटी पारदर्शी झिल्ली का आवरण चढ़ा रहता है।

पुरुष के सन्तानोत्पादक बीजकोश अर्थात् शुक्राणु एक अद्भुत आकार-प्रकार के अत्यन्त ही सूक्ष्म जीवाणु होते हैं, जिनकी लम्बाई एक इंच के ५०० वें अंश के लगभग होती है। प्रत्येक शुक्राणु के शरीर के तीन भाग होते हैं—सबसे ऊपर एक चपटा-सा अण्डाकार सिर या माथा, तदनन्तर एक नलिकाकार धड़ या मध्यभाग, और सबसे अन्त में एक लम्बी पतली-सी दुम या पूँछ। इनमें सिर सब से महत्वपूर्ण और आवश्यक भाग है और उसी में शुक्रकीट का नाभिक या केन्द्रीय द्रव्य रहता है। यदि हम ताज़ा हालत में सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा शुक्रकीट की पूँछ की जाँच करें तो वह हमें लगातार फड़फड़ाते और हिलते हुए दिखाई देगी। इस पूँछ की बदौलत ही शुक्राणु रेंगते या तैरते हुए आगे बढ़ने में समर्थ होता है।

पुरुष के बीजकोशों की तुलना में (जो कि लाखों की संख्या में बनते हैं) स्त्री के बीजकोश या डिम्ब बहुत ही कम संख्या और बड़ी मितव्ययता के साथ उत्पन्न होते हैं। किन्तु उन दोनों में एक बात, जो कि बहुत महत्वपूर्ण है, सामान्य पायी जाती है, और वह यह है कि पुरुष और स्त्री के देहकोशों में प्रत्येक में वर्णकणों (Chromosomes) की संख्या निश्चित होती है।

बीजकोशों में देहकोशों की अपेक्षा वर्णकणों की संख्या आधी क्यों होती है ?

यह प्रकृति का नियम है कि किसी भी एक वर्ग के सभी प्राणियों में वर्णकणों की संख्या सदैव समान रहती है। चाहे भिन्न-भिन्न जातियों के लिए भिन्न-भिन्न संख्या क्यों न हो, किन्तु एक ही जाति में सदैव एक ही निश्चित संख्या पाई जायगी। साथ ही यह भी आश्चर्यजनक व्यवस्था पाई जाती है कि पूर्ण रूप से परिपक्व बीजकोशों में वर्ण-कणों की संख्या साधारण देहकोशों के वर्णकणों की संख्या से ठीक आधी ही पाई जाती है, यद्यपि ये बीजकोश उन देहकोशों ही से बनते हैं। क्या कारण है कि इनमें वर्णकणों की संख्या आधी ही रह जाती है?

बात यह है कि जब कोई एक देहकोश और अधिक कोशों की रचना करने के उद्देश्य से विभाजित होता है तो प्रत्येक विभाजन में उसके नाभिक में विद्यमान प्रत्येक वर्णकण खड़े ढंग से चिरकर दो टुकड़ों में बँट जाता है और फलतः विभाजित कोश के प्रत्येक नवजात अर्द्धांश के हिस्से में वर्णकण का आधा-आधा भाग आ जाता है। इस प्रकार वर्णकणों की कुल संख्या बिना किसी परि-वर्त्तन के ज्यों-की-त्यों समान बनी रहती है। किन्तु जब साधारण देहकोशों से बीजकोश की रचना होती है तब वह यदि स्त्री का बीजकोश हो तो मूलकोश से प्राप्त वर्णकणों का आधा अंश तो परिपक्व डिम्ब में ग्रहण कर लिया जाता है और शेष आधा बाहर फेंक दिया जाता है। और यदि उक्त बीजकोश पुरुष का हो तो मूल देहकोश से बीजकोश का इस प्रकार विभाजन होगा कि उक्त कोश से उत्पन्न होनेवाले प्रति चार शुक्राणुओं में से प्रत्येक को विभाजित वर्णकणों का केवल अर्द्धांश ही प्राप्त होता है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष दोनों ही के बीजकोश में देहकोश की अपेक्षा वर्णकणों की संख्या केवल आधी ही रह जाती है (विशेष स्पष्टीकरण के लिए पृष्ठ २४१५ का चित्र देखिए)।

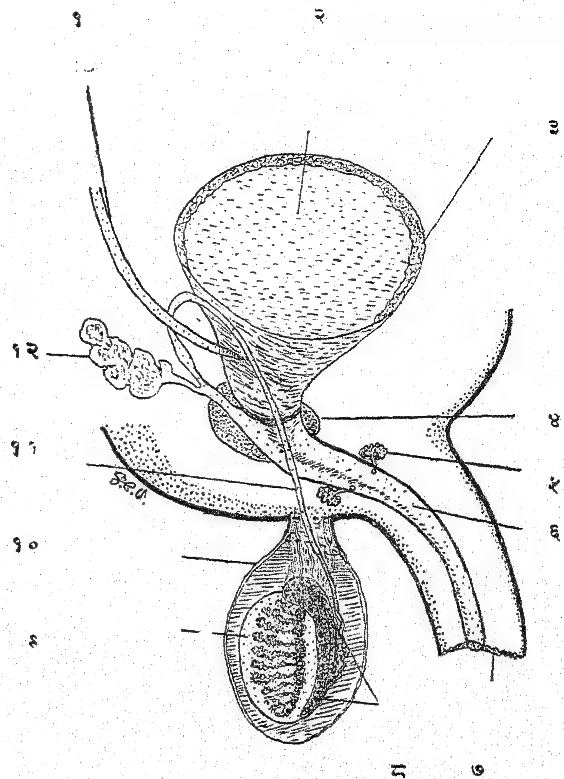
अब जिस बात की ओर हम आपका ध्यान दिलाना

चाहते हैं वह यह है कि एक नए मानव प्राणी का सृजन तभी सम्भव है जब कि ऊपर उल्लिखित बीजकोशों में से कोई एक पुरुष-कोश या शुक्रकीट किसी एक स्त्री-कोश या डिम्ब के साथ मिल जाय। किन्तु यह हो कैसे? वस्तुतः ये दो प्रकार के कोश दो विभिन्न व्यक्तियों के शरीरों में ही पाए जाते हैं। तो फिर एक नवीन व्यक्तित्व के सृजन के लिए किस प्रकार उन दोनों का संयोग हो? इस प्रश्न का समाधान आप शरीर के उन अंगों की रचना का अध्ययन करने के बाद सहज ही पा सकेंगे, जिनमें कि ये कोश बनते है। बहरहाल यहाँ जो बात ध्यान में रखने की है वह यह है कि जब पिता के शुक्रकीट या पुरुष-कोश का माता के डिम्ब या स्त्री-कोश से सम्मिलन होता है तो वे एक-दूसरे से संयुक्त होकर (जहाँ तक कि उनके मुख्य-मुख्य अवयवों का संबंध है) एकाकार हो हो जाते हैं और उनके इस संयोग द्वारा निर्मित नवीन कोश में वर्णकणों की संख्या पुनः पूर्ववत् अर्थात् उतनी ही हो जाती है जितनी कि मूल देहकोश में थी।

कोशों के इस अनोखे आचरण का क्या कारण है? क्यों पहले तो बीजकोश में परिणत होते समय मूल देह-कोश के वर्णकणों की संख्या आधी हो जाती और पुनः दो बीजकोशों के संयोग के उपरान्त वह पूर्ववत् संपूर्ण हो जाया करती है? इसका उत्तर यही है कि इस प्रकार की योजना द्वारा प्रकृति का ध्येय इस बात का पक्के तौर से प्रबंध कर लेना है कि प्रत्येक नवीन पीढ़ी की सृष्टि के समय माता-पिता के बीजकोशों के सम्मिलन द्वारा जिस नवीन देहकोश का निर्माण हो, उसमें वर्णकणों की संख्या मूल कोश के वर्णकणों की संख्या से प्रति बार दुगनी न होती चली जाय। एक और महत्त्वपूर्ण बात इन वर्णकणों के संबंध में यह है कि वे अपने साथ-साथ कुछ ऐसे विशिष्ट कण एक से दूसरे कोश में ले जाते हैं, जिनमें नई संतान में आकार-प्रकार आदि संबंधी वही लक्षण उत्पन्न करने का सामर्थ्य रहता है, जो कि माता-पिता में मौजूद रहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी भी जाति व जातीय लक्षणों को एक से दूसरी पीढ़ी में ले जाने और उन्हें सुरक्षित रखने का कार्य इन वर्णकणों द्वारा ही सम्पन्न होता है।

बालक से पूर्ण वयस्क पुरुष

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, लड़कियों की तरह लड़कों को भी पूर्ण रूप से विकसित पुरुष में परिणत होने के पहले अनेक प्रकार के परिवर्त्तनों में से होकर गुजरना



नर-जननेन्द्रियों की भीतरी रचना

१. मूत्रनली; २. मूत्राशय का गर्त्त; ३. मूत्राशय की भित्तिका; ४. शिश्नमूल ग्रन्थि (प्रोस्टेट); ५. काउपर की ग्रन्थि; ६ मूत्रमार्ग; ७ शिश्न; ८. उपांड; ९. शुक्र-ग्रन्थि; १०. अण्डकोश; ११. शुक्र-प्रनाली; १२. शुक्राशय। प्रस्तुत मानचित्र में उपर्युक्त अङ्गों को लंबाई के रुख़ काटकर उनकी भीतरी रचना दिग्दर्शित की गई है। अण्डकोश का परदा हटाकर उसके भीतर के अण्ड और उपांड की बल खाई हुई नलिकाओं को गेंडुरियाँ दिखाई गई हैं। क्या आप जानते हैं कि यदि ये गेंडुरीनुमा नलिकाएँ एक सीधी रेखा में फैलाई जायँ तो लगभग एक फर्लाङ्ग या २६७ गज़ लंबी होंगी?

पड़ता है। किन्तु किशोरावस्था में लड़कों में जो परिवर्त्तन होते हैं उनमें और लड़कियों में होनेवाले परिवर्त्तनों में बहुत अधिक अंतर होता है। लड़कों की वयस्कता प्राप्ति का आरंभ भी लगभग उसी उम्र में होता है, जिसमें कि लड़कियों का, किन्तु लड़कों में प्रजनन-संबंधी अंगों का विकास १८ से २० वर्ष की आयु में अथवा उससे भी कहीं बाद में जाकर ही हो पाता है और उनका पूर्ण विकास तो लगभग पच्चीस वर्ष की आयु में जाकर होता है। इसीलिए

इस बात पर ज़ोर दिया जाता है कि उस उम्र तक पहुँचने से पहले लड़कों का विवाह नहीं होना चाहिए।

किशोरावस्था से युवावस्था की ओर पदार्पण करते समय लड़कों में जो एक ख़ास नया परिवर्त्तन स्पष्ट दिखाई देने लगता है, वह उनकी आवाज़ में होता है। इस परिवर्त्तन को लड़के की आवाज़ खुलना कहते हैं। क्रमशः उसका बालोचित कोमल स्वर बदलकर वयस्क पुरुष की गंभीर और मोटी आवाज़ में परिणत हो जाता है। साथ ही उसके चेहरे पर भी पुरुषत्व के सुस्पष्ट चिह्न और लक्षण निखरने लगते हैं, जैसे कि मूँछों की रेखा का बँधना, दाढ़ी पर भी बाल उगने लगना, आदि। लड़कियों की तरह लड़के के भी काँख तथा उपस्थ के आसपास रोमावली उभरने लगती है और इसके अलावा हाथ-पैर तथा सीने पर भी मोटे रोम उग आते हैं। लड़कियों के शरीरों में जहाँ इन दिनों एक विशेष लुनाई आने लगती है, वहाँ लड़का अधिक दृढ़ और हट्टा-कट्टा होना शुरू होता है। उसकी भुजाओं की मांसपेशियाँ उभरने लगती हैं, सीना चौड़ा हो जाता है और ललाटास्थि की कोर उभरकर स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

इधर जहाँ शरीर के बाहरी आकार-प्रकार में ये सब परिवर्त्तन होते हैं, वहाँ किशोरावस्था के पाँच-छः वर्षों की इस अवधि में लड़के के शरीर के भीतर भी दूसरे कई विशेष परिवर्त्तनों का क्रम जारी रहता है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन उसके अण्डकोशों में अवस्थित विशिष्ट ग्रन्थियों द्वारा बीजकोशों अर्थात् शुक्राणुओं के उत्पादन के श्रीगणेश के रूप में होता है। जब लड़का वयस्क हो जाता है तब ये बीजकोश या शुक्राणु निरंतर बनने लगते हैं और इकट्ठा होकर एक गाढ़े चपचपे तरल द्रव्य में रहने लगते हैं, जिसे 'शुक्र' या 'वीर्य' (Semen) कहते हैं। यह तरल द्रव्य एक अत्यंत मूल्यवान् पदार्थ है—विशेषकर मस्तिष्क और स्नायवीय कोशों के पोषण के लिए वह संसार का एक सबसे अधिक पौष्टिक तत्त्व कहा जा सकता है। इसीलिए जिन युवकों को अपने शरीर और मस्तिष्क दोनों को पूर्ण स्वस्थ रखना अभीष्ट हो, उन्हें इस बात की हर तरह से सावधानी रखनी चाहिए कि इस अमूल्य सम्पत्ति का कदापि अपव्यय न होने पाए।

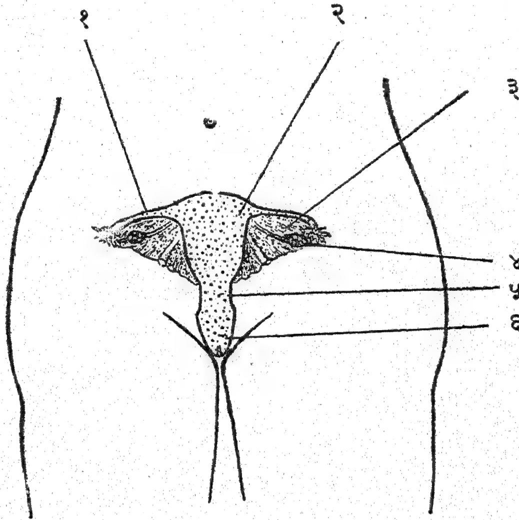
किशोरावस्था की सीमा को लाँघकर युवावस्था के प्राङ्गण में पदार्पण करने जा रहे नवयुवक के मन पर यह बात विशेष रूप से जमा देना आवश्यक है कि प्रजनन-क्रिया में सक्रिय भाग लेने का उसके लिए समय आए उसके पहले उसके संतानोत्पादक बीजकोशों के उत्पादन के सिलसिले में प्रकृति कभी-कभी यह नितान्त आवश्यक समझती है कि उसके वीर्य का कुछ भाग बाहर निकाल फेंके। इसका सबसे सरल तरीक़ा, जो कि प्रकृति द्वारा काम में लाया जाता है, यही होता है कि निद्रावस्था में कभी-कभी वीर्यपात हो जाय। जब पहलेपहल किसी किशोर अथवा युवक को ऐसा अनुभव होता है तो यदि उसे यह बतला न दिया जाय कि यह प्रकृति का अपरिपक्व शुक्राणुओं को निकाल बाहर करने का एक सरल तरीक़ा मात्र है, तो वह उसी तरह घबड़ा जाता है जैसे कि लड़कियाँ प्रथम बार ऋतुमती होने पर घबड़ा उठती हैं। परन्तु दरअसल यदि ऐसा बार-बार न होता हो और न ऐसा होने पर किसी प्रकार की ख़ास कमज़ोरी का ही अनुभव होता हो तो इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है। यह तो प्रकृति का अपना एक क्रम-जैसा है। हाँ, कतिपय असाधारण स्वास्थ्य वाले युवकों को कभी इस प्रकार के स्वप्नदोष का अनुभव होता ही नहीं।

पुरुष के प्रजनन-संबंधी अंग अथवा नर-जननेंद्रियाँ

किसी भी स्त्री या कन्या के प्रजनन-संबंधी अंग उसके शरीर के भीतर ही पाए जाते हैं, किन्तु इसके विपरीत नर के इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण अंग उसके शरीर के बाहर ही रहते हैं। आइए देखें कि वे क्या और कैसे हैं तथा उनके क्या-क्या कर्त्तव्य हैं। मोटे तौर पर पुरुष या नर के जनन-संस्थान को हम तीन विभागों में बाँट सकते हैं। इनमें प्रथम भाग उसके धड़ के अधोभाग में दोनों जंघाओं के जोड़ के स्थान से नीचे को लटकती हुई वे दो थैलियाँ-सी हैं, जिन्हें वृषण या अंडकोश (Testes or Testicles) कहते हैं। इनमें से प्रत्येक वस्तुतः एक प्रकार की ग्रंथि है, जिसका आकार एक छोटे अखरोट या कबूतर के अंडे जितना बड़ा होता है और जो एक तरह की शिकनदार त्वचा की थैली में बंद रहती है, जिसे अंडकोषों का आवरण (Scrotum) कहा जाता है। इस थैली में बन्द अंड एक प्रकार की बल खाई हुई प्रनालियों या नलिकाओं की ग्रंथि-जैसे होते हैं और उनके भीतरी पृष्ठ की कोष्ठयुक्त कला द्वारा अविराम गति से उन अद्भुत संतानोत्पादक कोशों अथवा शुक्राणुओं का निर्माण होता रहता है, जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इनका भीतरी हिस्सा अनेक सूक्ष्म और सँकड़े कक्षों में विभाजित रहता है, जिनमें से प्रत्येक का एक प्रधान लंबी प्रनाली द्वारा यातायात का संबंध रहता है। इन कोष्ठों में

सदैव रक्त का यथेष्ट संचार होता रहता है, जिससे कि शुक्रोत्पादक कोशों की पोषण-तत्त्व की आवश्यकताओं की पूर्त्ति में कमी न पड़े और वे अपने विभाजन द्वारा निरन्तर शुक्र-कीटों का उत्पादन करते रहें।

पृष्ठ २४१७ के चित्र में प्रत्येक अंड के ऊर्ध्व और अधोभाग पर किसी रचना के जो दो चपटे-से सिरे निकले हुए दिखाई दे रहे हैं। वे एक महत्त्वपूर्ण प्रनाली के सिरे हैं जिसमें कि जन्म के बाद शुक्रकीट कुछ समय तक संचित रहते हैं। जन्म के उपरान्त पहले वे उक्त प्रनाली के ऊपरी सिरे में पहुँचते हैं और तदनन्तर अंड के पीछे फैली हुई एक गेंडुलीनुमा मोटी नली के रास्ते उसके निचले भाग में जा पहुँचते हैं, जो 'उपांड' (Epididymis) के नाम से पुकारा जाता है। उपांड बहुत ही संकुचित स्थान में आश्चर्यजनक ढंग से समाई हुई २० से ३० फ़ीट तक लंबी एक बेहद मुड़ी और बल खाई हुई नलिका की गेंडुली-सा होता है! इस प्रनाली में शुक्रकीट तब तक टिके रहते हैं, जब तक कि उनके अंड से बाहर जाने का समय नहीं आता। जब वह समय आता है तो वे उक्त प्रनाली की दीवारों की पेशियों के आकुंचन द्वारा बाहर धकेल दिए जाते हैं।



नारी-शरीर में प्रजनन-संबंधी अंगों की स्थिति
१. डिम्ब-प्रनाली ; २. गर्भाशय ; ३. झिल्ली ; ४. डिम्ब-ग्रंथि ; ५. गर्भाशय की ग्रीवा ; ६. योनि-संपुट।

अब हम नर-जनन-संस्थान के उस दूसरे विभाग पर आते हैं, जिसका कार्य है जब-जब भी आवश्यकता पड़ती रहे तब-तब इन शुक्राणुओं को अपने उत्पादन-स्थल से खींचकर ऊपर शरीर में पहुँचाते रहना और समय आने पर पुनः वहाँ से उन्हें अपने प्रमुख लक्ष्य अर्थात् नारी के शरीर में स्थित डिम्ब से भेंट करने के लिए उपयुक्त स्थान तक ले जाना। इस कार्य को साधने लिए जो प्रनाली काम आती है, उसका आरंभ उपांड से होता है, जहाँ से ऊपर उठकर वह वस्तिगह्वर में चली गई है (दे० पृष्ठ २४१७ का चित्र)। इस प्रनाली को शुक्र-प्रनाली (*Vas deferens*) के नाम से अभिहित किया जाता है। यह प्रनाली कुछ दूर ऊपर जाकर एकबारगी ही दिशा पलटकर मुड़ जाती है और मूत्राशय से नीचे की ओर आनेवाली नली में मिल जाती है। इन दोनों नलिकाओं के मिलने से वह सीधी चौड़ी नली बनती है, जिसे 'मूत्रमार्ग' (Urethra) कहते हैं और जो उपस्थ या शिश्न में से होकर अंत में शिश्नाग्र के सिरे पर पहुँचकर एक छिद्र के रूप में खुल जाती है। इसी एक सामान्य मार्ग द्वारा आवश्यकतानुसार मूत्र तथा शुक्र-कीटों से युक्त वीर्य दोनों ही अपने-अपने समय पर बाहर निकला करते हैं। शिश्न में इस नली के आसपास शिराओं के जंजाल से युक्त चारों ओर फैले हुए एक विचित्र प्रकार के स्पंजनुमा सौत्रिक तंतु होते हैं। इस तंतु-जाल की यह ख़ूबी होती है कि मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित कतिपय विशिष्ट भावनाओं के आवेश अथवा बाह्य स्पर्श द्वारा होनेवाली एक प्रकार की उत्तेजना के प्रभाव से उनमें विशेष मात्रा में रक्त का संचार होने लगता है, जिससे कि उनकी स्पंजनुमा दीवारें फूलकर विस्तृत हो जाती हैं और फलतः शिश्न में एक अद्‌भुत स्थूलता और दृढ़ता आ जाती है, जैसा कि प्रत्येक पुरुष को अपने अनुभव से ज्ञात ही है। शिश्न के इस प्रकार दृढ़ हो जाने को उसका 'प्रहर्ष' कहते हैं, और यह अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि ऐसा होने पर ही वह मैथुन के समय नारी-अंग में उपयुक्त स्थान तक वीर्य को पहुँचा पाने में समर्थ हो पाता है।

नर-जनन-संस्थान का तीसरा हिस्सा वे अनेक अतिरिक्त ग्रंथियाँ हैं, जिनमें से तरह-तरह के रस स्रवित होकर स्खलन के समय शुक्राणुओं के साथ मिश्रित होते हैं। पृ० २४१७ के चित्र में जहाँ मूत्रमार्ग के साथ शुक्र-प्रनाली का संमिलन होता है, वहाँ उससे जुड़ी हुई दो थैलीनुमा रचनाएँ आप देख सकते हैं। ये 'शुक्राशय' (*Seminal Vesicles*) कहलाती हैं और लगभग २ से ३ इंच तक लंबी होती हैं। ये थैलियाँ अंडकोशों से आए हुए शुक्राणुओं को संचित

रखने के हेतु मानों भंडार का काम करती हैं, साथ ही वे समीप ही अवस्थित 'शिश्नमूल ग्रन्थि' (Prostate) तथा 'काउपर की ग्रंथि' (Cowper's Gland) की भाँति एक पतला तरल द्रव्य भी तैयार करती हैं, जो हलके दूधिया रंग का होता है। इस तरल रस के सम्मिश्रण से न केवल शुक्राणुओं के झुण्ड के समूचे आकार में ही वृद्धि होती है, बल्कि उन्हें आसानी के साथ तैरते हुए इधर-उधर घूमने-फिरने के लिए एक बढ़िया माध्यम भी मिल जाता है। यही नहीं, यह रस शुक्राणुओं को मूत्रमार्ग में यहाँ-वहाँ छितरी रह जानेवाली मूत्रबूँदों की अम्लता के प्रभाव से नष्ट हो जाने से बचाता भी है। इस प्रकार शुक्रकीटों और इन ग्रन्थियों के रस के सम्मिश्रण से जो तरल द्रव्य तैयार होता है, वही 'वीर्य' या 'शुक्र' (Semen) कहलाता है।

नारी-जननेन्द्रियाँ

पुरुष की भाँति स्त्री की जननेन्द्रियों के भी बाह्य और आंतरिक ऐसे दो विभाग माने जा सकते हैं, यद्यपि स्त्री में पुरुष की अपेक्षा बाह्य भाग कम दिखाई देते हैं, साथ ही कम महत्त्वपूर्ण होते हैं। नर के अंडकोष के रूप में शरीर के बाहर की ओर लटकते गए दो शुक्रोत्पादक अंग होते हैं उसी प्रकार नारी में भी बीजकोशोत्पादक दो ग्रंथियाँ होती हैं, जो 'डिम्ब-ग्रंथियाँ' (Ovaries) कहलाती हैं। किन्तु ये उसके शरीर के बाहर नहीं, बल्कि उसके वस्तिगह्वर में कमर के पास नितम्बास्थियों के समीप तथा गुर्दों से कुछ ही पीछे होती हैं, जैसा कि पृ० २४१६ के चित्र में दिखाया गया है। इन्हीं ग्रन्थियों में वे अत्यन्त महत्वपूर्ण नारी-बीजकोश या 'डिम्ब' (Ova) बनते और रहते हैं, जिनका कि परिचय ऊपर दिया जा चुका है। इनमें से प्रत्येक डिम्ब-ग्रन्थि का आकार एक चपटे-से अंडे या बादाम जैसा होता है और उसका परिमाण भी एक बड़ी-सी बादाम जितना ही अर्थात् लगभग १॥ इंच लंबा और पौन इंच चौड़ा होता है। जन्म के समय से ही प्रत्येक लड़की के शरीर में ये छोटी-सी ग्रन्थियाँ मौजूद रहती हैं। उस समय भी प्रत्येक ग्रन्थि में लगभग ७०००० अपरिपक्व परन्तु सशक्त डिम्ब पाए जाते हैं। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे इन असंख्य डिम्बों में से कई एक को कभी पकने का मौक़ा ही नहीं मिलता और वे व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं। जब लड़की बढ़कर युवावस्था की सीमा में प्रवेश करने लगती है, उस समय उसके कुछ डिम्ब अपने नाभिकों (Nuclei) की रचना कर ऊपर उल्लिखित विधि से अपने वर्णकणों की आधी संख्या को बाहर फेंककर पकने लगते हैं।

इन डिम्ब-ग्रन्थियों की रसद-पूर्ति के लिए उनमें काफ़ी रक्तवाहिनियों और नाड़ियों की व्यवस्था रहती है, और ये शरीर की भीतरी मांसपेशी-रचित दीवार से एक प्रकार के चौड़े बंधनों द्वारा जुड़ी रहती हैं। इनकी रचना अंड या शुक्र-ग्रन्थियों की भाँति नलिकाकार नहीं होती, प्रत्युत् उनके मुख्य भाग में एक प्रकार के संयोजक सौत्रिक तंतुओं का जाल-सा फैला रहता है, जिसके पृष्ठ के जंजाल में डिम्बों के अतिरिक्त अन्य साधारण कोश भी उलझे रहते हैं। इस खिचड़ी जैसे ढेर में अनेक डिम्ब अपने विकास की भिन्न-भिन्न अवस्था में पड़े दिखाई देते हैं और उनमें से प्रत्येक एक प्रकार के गोलाकार कोश-निर्मित डिम्ब-वेष्ट से परिवेष्टित रहता है, जो उनका पोषण और संरक्षण दोनों ही करता है। इनमें से जिन डिम्बवेष्टों के भीतर के डिम्ब परिपक्व होने के करीब होते हैं, वे डिम्ब-ग्रन्थि की सतह पर यहाँ-वहाँ गोल-गोल दानों के रूप में उभरे हुए दिखाई देते हैं।

जहाँ नर-बीजकोशों या शुक्राणुओं का अंड में लगातार निर्माण होता रहता है और वे वहाँ से निरंतर निकलते रहते हैं, वहाँ इन नारी-बीजकोशों या डिम्बों का प्रकृति बहुत अधिक मितव्ययितापूर्वक निर्माण करती है और उन्हें ख़र्च करने में तो वह और भी अधिक मितव्ययी बन जाती है। रजोदर्शन से रजोनिवृत्ति के समय तक (जोकि अधिकांश स्त्रियों में ४५ वर्ष की उम्र में होता है) प्रत्येक स्त्री के जीवन में प्रति चार सप्ताह के अंतर से केवल एक डिम्ब-वेष्ट डिम्ब-ग्रन्थि की सतह के ऊपर फूटकर अपने गर्भमंदिर में स्थित परिपक्व डिम्ब को मुक्त करता है। इस प्रकार बारह-तेरह वर्ष की आयु से लगाकर पैंतालिस वर्ष की आयु तक प्रति मास बारी-बारी से हर डिम्ब-ग्रन्थि में साधारणतया केवल एक ही डिम्ब पककर छुटकारा पाता और उसकी परिधि लाँघकर यात्रा करने के लिए बाहर की ओर अग्रसर होता है।

पृ० २४२२ के चित्र में दोनों डिम्ब-ग्रन्थियों में से प्रत्येक के ठीक ऊपर झालर की तरह छाई हुई एक कुप्पीनुमा रचना आप देख सकते हैं। इन रचनाओं के दूसरे छोर पर एक एक नली जुड़ी हुई है, जिसे 'डिम्बप्रनाली' (Oviduct or Fallopian Tube) कहते हैं। ये नलियाँ लगभग पाँच-पाँच इंच लंबी होती हैं और उनका एक मुँह तो उपर्युक्त उल्लिखित कुप्पीनुमा सिरे के रूप में डिम्ब-ग्रन्थि के पास के पेट में खोखले हिस्से में खुला रहता है और दूसरा गर्भाशय के ऊपरी भाग में जाकर खुलता है,

जिसका कि वर्णन आगे चलकर किया गया है। डिम्ब-ग्रन्थि की ओर के कुप्पीनुमा मुख पर कुछ उँगलीनुमा अंकुर होते हैं, जो डिम्ब-ग्रन्थि से परिपक्व डिम्ब के छूटते ही उसे पकड़कर डिम्ब-प्रनाली के भीतर धकेलते हैं। इस प्रनाली की भीतरी कला के पृष्ठ पर कुछ महीन लहराते हुए रोम-जैसे अंकुर होते हैं। उन अंकुरों तथा कला पृष्ठ की पेशियों के आकुंचन द्वारा धकेला जाकर आगन्तुक डिम्ब नली के गर्भाशयवाले मुख की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार अपने ध्येय-स्थान—गर्भाशय—तक की यात्रा के लगभग पाँच इंच के इस फ़ासले को तय करने में एक डिम्ब को क़रीब आठ दिन का समय लग जाता है!

यह ध्यान देने की बात है कि डिम्ब-प्रनाली का कुप्पीनुमा झालरदार मुख कुछ अंश तक ही डिम्ब-ग्रन्थि के ऊपर छाया हुआ रहता है, वह उसे पूरी तरह नहीं ढके रहता। इस प्रकार इस बात की भी संभावना रहती है कि डिम्ब-प्रनाली में प्रवेश करने के बजाय वह भूल से पेट के खोखले भाग में ही जा गिरे। ऐसा शायद ही कभी हो पाता है, परन्तु यदि इस तरह भटके हुए डिम्ब की उसी तरह भटक निकलनेवाले किसी शुक्रकीट से भेंट हो जाय तो गर्भाशय से बाहर पेट के उक्त खोखले हिस्से में ही बच्चे का गर्भ प्रस्थापित हो जाता है, जिससे स्त्री के लिए भारी ख़तरा पैदा हो जाता है।

वह थैली जिसमें गर्भस्थ शिशु रहता है

गर्भाशय या जरायु पृ० २४२२ के चित्र में दिग्दर्शित आकार-प्रकार का एक मज़बूत कक्ष होता है, जो वस्ति-गह्वर में मूत्राशय के पीछे और मलाशय के आगे अवस्थित होता है। सामान्यतः वह लगभग तीन इंच लंबा होता है, किन्तु जिन दिनों उसमें गर्भस्थ बच्चा रहता है, उन दिनों मोटी पेशीयुक्त दीवारोंवाला यह थैलोनुमा अंग फैलकर सामान्य दशा से कई गुना बड़ा हो जाता है। उसमें तीन रास्ते होते है, जिनमें ऊपर के दोनों कोनों के रास्तों से दो डिम्ब-प्रनालियाँ उसमें प्रवेश करती हैं और तीसरा रास्ता, जो उसकी 'ग्रीवा' (Cervix) कहलाता है, क्रमशः तंग होते हुए एक गुहा जैसे मार्ग में आकर नीचे खुल जाता है। यह मार्ग योनि (Vagina) कहलाता है और तीन-चार इंच लंबा होता है। उसका निचला सिरा या मुख स्त्री के भगस्थान पर एक द्वार के रूप में खुला रहता है। कुमारी कन्याओं में योनि का यह द्वार त्वचा के एक पतले गोल परदे द्वारा ढका रहता है, किन्तु वह बिल्कुल बंद नहीं होता। इस परदे को कुमारिच्छद (Hymen) कहते हैं, और प्रथम समागम के समय वह फट जाता है। योनिद्वार के आसपास दो छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ लगी रहती हैं, जो उसके मार्ग को तर रखने के लिए एक प्रकार का तरल रस उत्पन्न करती हैं।

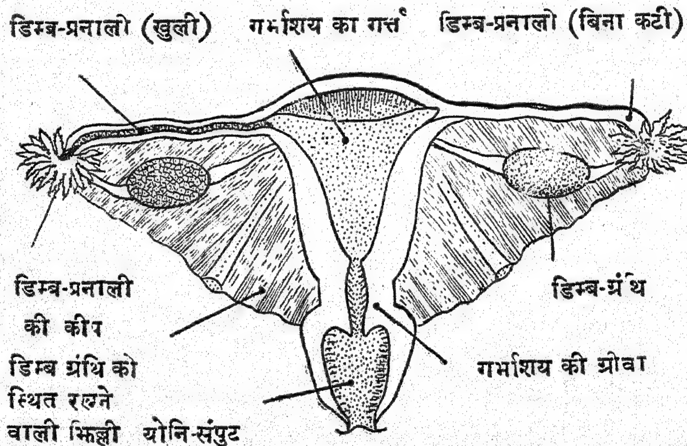
स्त्री की जननेन्द्रिय के बाहर से दिखाई देनेवाले अंगों में दो उभरे हुए वसा से युक्त मोटे ओष्ठ होते हैं, जो कि संपुटित होकर योनिमुख और मूत्रद्वार को ढके रहते हैं। पुरुष में, जैसा कि हम देख चुके हैं, शुक्र और मूत्र दोनों के निकलने के लिए एक ही मार्ग होता है। किन्तु स्त्रियों में ऐसा नहीं होता—उनमें गर्भाशय और मूत्राशय दोनों से दो भिन्न प्रनालियाँ अलग-अलग द्वार के रूप में आकर बाहर खुलती हैं और दोनों के मुख दो-दो पतले ओठों द्वारा ढके रहते हैं। जहाँ ये ओठ मिलकर एक कोण बनाते हैं, उस स्थान में एक छोटा-सा अंकुर होता है, जिसे भगनासा (Clitoris) कहते हैं। स्त्री के इस अंग की रचना बहुत-कुछ पुरुष के शिश्न जैसी होती है और उसी की तरह इसमें भी प्रहर्षक तंतु होते हैं, जिनसे मैथुन के समय वह दृढ़ हो जाता है।

शिशु का बीजारोपण

गर्भाशय जिन दिनों खाली रहता है, अर्थात् उसमें बच्चा नहीं होता उन दिनों महीने में एक बार नियमित रूप से उसकी बड़ी कड़ी सफ़ाई होती रहती है, जिसका कि बाहरी स्वरूप हम स्त्री के मासिक रक्तस्राव अथवा आर्त्तव के रूप में देखते हैं। ऐसा क्यों होता है? हम बता चुके हैं कि डिम्ब-ग्रन्थियों से छूटकर प्रति मास एक परिपक्व डिम्ब डिम्ब-प्रनाली के रास्ते गर्भाशय में आता है। अविवाहिता स्त्री में तो वह जरायु तक पहुँच जाने पर भी प्रति बार नष्ट हो जाता है और आर्त्तव के साथ बाहर फेंक दिया जाता है। किन्तु विवाहिता स्त्री में डिम्ब-प्रनाली में से होकर आते समय यदि कहीं उसकी भेंट मैथुन द्वारा प्रविष्ट पुरुष के किसी शुक्रकीट से हो जाती है तो एक नवीन मानव शिशु का बीजारोपण हो जाता है। पर यह क्रिया तभी सफल हो पाती है जबकि वह संयुक्त बीज जरायु के भीतरी पृष्ठ में कहीं चिपक जाय। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए डिम्ब-ग्रन्थि से डिम्ब के छूटने के आठ-दस दिन बाद जरायु के भीतरी पृष्ठ की झिल्ली टूट जाती है और उसके पुराने पड़ जानेवाले कोश मानों झाड़-बुहारकर बाहर फेंक दिए जाते हैं तथा उनका स्थान नए ताज़े कोश ले लेते हैं। स्वभावतः ही इस

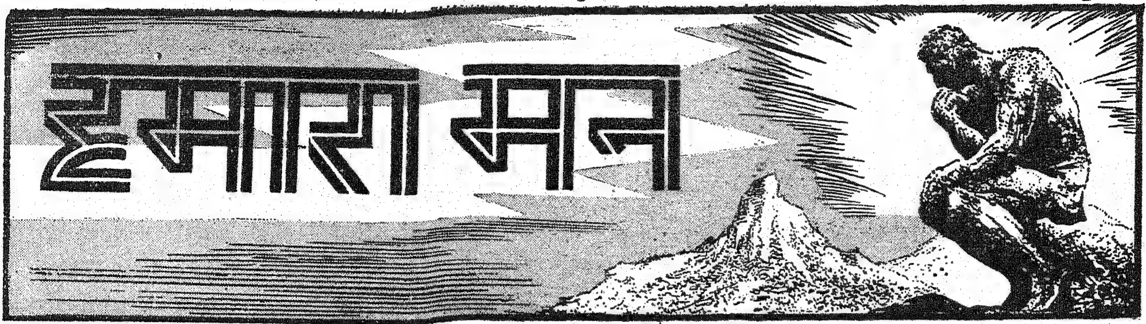
क्रिया में बहुतेरी रक्तवाहिनियाँ फूट निकलती हैं, और फलतः आर्त्तव के रूप में प्रति २८ वें या ३० वें दिन झाड़े-बुहारे गए तंतु बाहर निकलते देखे जाते हैं। इस प्रकार जरायु का भीतरी पृष्ठ फिर से ताज़े कोशों से युक्त होकर शुक्राणु से संयुक्त किसी भी डिम्ब को ग्रहण करने को तैयार रहता है, ताकि ज्योंही कोई ऐसा बीज उस पर आकर प्रस्थापित हो त्योंही वह उसे अपने नवीन तंतुओं से ढककर अपनी सतह पर चिपका ले। यदि ऐसा हो जाता है तो कहा जाता है कि स्त्री के गर्भ प्रस्थापित हो गया। इस बीजारोपण के हो जाने पर फिर अगले महीने से जरायु की मासिक सफ़ाई अर्थात् आर्त्तव का क्रम बंद हो जाता है, जो इस बात का सूचक होता है कि गर्भस्थिति हो चुकी। यह हमारे शरीर-यंत्र के अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल बना लेने की आश्चर्यजनक क्षमता का एक और उज्ज्वल उदाहरण है। ज्योंही गर्भस्थित बीज का विकास होने लगता है, न केवल मासिक आर्त्तव ही बंद हो जाता है, बल्कि डिम्ब-ग्रन्थियाँ भी अब और अधिक परिपक्व डिम्बों का उत्पादन करना बंद कर देती हैं। यही नहीं, उनमें स्रवित होकर रक्त में मिलने-वाले रसों में भी अब कई परिवर्त्तन हो जाते हैं, जिनके प्रभाव से गर्भिणी के स्तनों में प्रस्थापित दुग्ध-ग्रन्थियाँ विशेष रूप से कार्य करना शुरू कर देती हैं ताकि बच्चा पैदा होने पर उनमें दूध बनने लगे। प्रसव के बाद किसी में जल्दी तो किसी में कुछ देर से डिम्ब-ग्रन्थियाँ पुनः परिपक्व डिम्बों को बनाकर गर्भाशय में प्रेषित करना शुरू कर देती हैं और उसी प्रकार पुनः मासिक धर्म भी होने लगता है।

साधारण रूप से डिम्ब-ग्रन्थि से छुटकारा पाने पर कोई भी परिपक्व डिम्ब डिम्ब-प्रनाली में तीन-चार रोज़ ही जीवित रह सकता है, अतएव विवाहिता स्त्रियों में भी कई एक ऐसे डिम्ब किसी सचेतन शुक्रकीट से संयुक्त न हो पाने के कारण व्यर्थ ही नष्ट होकर आर्त्तव के साथ शरीर से बाहर फेंक दिए जाते हैं। एक बार के मैथुन में स्त्री की योनि में कई करोड़ शुक्राणु प्रविष्ट होते हैं। इनमें से कुछ तो तत्काल ही मर जाते हैं, कई योनि के अम्लीय रसों से नष्ट हो जाते हैं और शेष गर्भाशय की ओर ऊपर अग्रसर होते हैं। उसमें प्रवेश पा जाने पर वे उसमें विद्यमान क्षारीय रसों से मानों पुनः तरोताज़ा हो जाते हैं और अब इन बचे-खुचे शुक्रकीटों में डिम्ब-प्रनाली के मुख तक पहुँचने के लिए एक सच्ची दौड़ की प्रतियोगिता शुरू होती है। इस भगदड़ में उनमें से कई अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं और कुछ ही डिम्ब-प्रनाली के सिरे तक पहुँच पाते हैं। यहाँ डिम्ब-ग्रन्थि से छूटे हुए किसी परिपक्व सशक्त डिम्ब से भेंट करने की आशा में वे ठहरे रहते हैं। ज्योंही ऐसा कोई डिम्ब सामने पड़ा, त्योंही उम्मीदवारों में से कोई एक शुक्राणु, जो स्वभावतः सबसे अधिक स्वस्थ और सशक्त होता है, दूसरों को मात करके सिर के बल उस डिम्ब के कलेवर में घुस पड़ता है। इस क्रिया में वह अपनी दुम को बाहर ही त्याग देता है और केवल उसका शीर्ष-भाग ही डिम्ब-नाभिक से संयुक्त होने को तेज़ी से आगे बढ़ता है। सामान्यतया केवल एक ही ऐसा शुक्रकीट डिम्ब के भीतर प्रवेश कर पाता है, परन्तु कभी-कभी एक से अधिक भी प्रवेश कर जाते हैं। उस दशा में ऐसी अमानुषिक संतानें पैदा होती हैं, जिनके कि दो सिर या चार हाथ-पैर आदि होते हैं। और यदि कभी एक साथ ही या कुछ समय के अन्तर पर दो या इससे भी अधिक डिम्बों में उतने ही शुक्रकीटों द्वारा बीज-प्रस्थापन हो जाता है तो उस दशा में एक साथ दो-तीन या इससे भी अधिक बच्चे पैदा होते हैं।



नारी-जननेन्द्रियाँ—(लंबाई के रुख़ काटकर दिखाया गया दृश्य)

शुक्राणुओं में डिम्ब के साथ संयुक्त होने की क्षमता एक से दो हफ़्तों तक बनी रहती है। यदि इस अवधि में वे अपनी प्रयोजन-सिद्धि नहीं कर पाते तो अन्त में मर जाते हैं और असफल डिम्ब की भाँति उनके भी शव बहाकर प्रकृति द्वारा बाहर फेंक दिए जाते हैं। यही कारण है कि यह ज़रूरी नहीं होता कि प्रत्येक मैथुन में गर्भ-स्थिति हुआ ही करे।



मनोयोग

आपने शायद वह कहानी सुनी होगी जिसमें कहा गया है कि एक पुराना सैनिक बाज़ार से एक कटोरे में घी लेकर चला आ रहा था कि किसी ने मज़ाक़ करने की नीयत से सहसा कहा—"अटेन्शन !" और बेचारा सैनिक आदत के अनुसार बिल्कुल तनकर खड़ा हो गया और उसका घी का कटोरा रहा ज़मीन पर! यह कहानी प्रायः यह दिखाने के लिए कही जाती है कि अभ्यास का कितना बड़ा ज़ोर आदमी पर है। लेकिन आपने शायद यह ध्यान न दिया हो कि जो सैनिक बाज़ार से घी लिये जा रहा है, उसका मन घी की पूड़ी या हलवे में लगा हुआ है। हो सकता है कि उसकी कल्पना में हलवे की हल्की-हल्की ख़ुशबू भी नाकों में आने लगी हो और तब अचानक वह सुनता है—"अटेन्शन !" और उसका ध्यान तड़पकर चला जाता है एक दूसरी ही अवस्था पर, एवं उसकी प्रतिक्रिया होती है उसके एक विशेष प्रकार के शरीर-संचालन में।

इस कहानी का एक और हिस्सा है, जो आज तक किसी ने न कहा। ठीक उसी रास्ते पर, उसी जगह दो और भी आदमी चले जा रहे थे। उनमें से एक ने भी सुना "अटेन्शन", लेकिन वह जैसे चल रहा था वैसे ही चलता रहा। हाँ, उक्त सैनिक के उस आकस्मिक आचरण पर वह हँसने के लिए ज़रूर ठहर गया, जैसा कि आधुनिक हर एक आदमी का स्वभाव है! लेकिन भला उस एक और आदमी को तो देखिए, जिसने ज़रा भी सुना नहीं कि किसी ने कुछ कहा भी या किसी ने कुछ हास्यजनक काम किया भी!

अतएव जब पहले ने पुकारा—"अजी ओ, देखा तुमने उस सिपाही को ?" और बात पूरी न करके वह ही-ही-ही करने लगा तो दूसरे ने उस सैनिक की ओर, फिर पहले आदमी की ओर देखा, और ज़बर्दस्ती चेहरे पर ज़रा-सी मुस्कुराहट खींचकर वह फिर अपने काम में लग गया, यानी चलने लगा।

मतलब यह कि यद्यपि बात एक ही थी, किन्तु तीनों व्यक्तियों ने तीन विभिन्न प्रकार के आचरण किए। एक ने उस बात में ही अपना मन-प्राण लगा दिया, यहाँ तक कि उसे महँगे घी का भी ध्यान न रहा; दूसरा उस बात को देखकर हँसने के लिए ठहर गया; और तीसरे ने न कुछ सुना, न देखा—यहाँ तक कि जब ज़बर्दस्ती उसका ध्यान उस बात की ओर खींचा गया तो भी वह ज़रा-सा मुस्कुराया ही, मानों मुस्कराने में भी उसका कुछ ख़र्च होता हो!

जब हम किसी वस्तु या अवस्था पर ध्यान देते हैं तो यह नहीं होता कि बिना मतलब ही उस पर हमारा ध्यान गया हो! वस्तुतः हमारे ध्यान के पीछे हमेशा कोई-न-कोई मतलब छिपा रहता है और यह मतलब या स्वार्थ जितना ही शक्तिशाली होता है उतना ही अधिक हमारा ध्यान उस वस्तु पर खिंचता है। ऊपर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट है कि सिपाही के लिए जीविका-उपार्जन करने का एकमात्र साधन उसकी सैनिक शिक्षा और आचरण ही है। इसलिए उसका जीवन सम्पूर्ण रूप से सैनिक आज्ञाओं का उचित पालन करने पर ही निर्भर है। लाख उसका मन पूड़ी और हलवे पर लगा हो और हज़ार उसकी आँखों के सामने हाथ में करछुल लिये लल्लू की माँ की तस्वीर नाच रही हो, लेकिन जैसे ही एक सैनिक आज्ञा उसके कानों में पड़ती है, उसका मन उछलकर हलवा और पूड़ी के आदि-स्रोतरूपी अपने उसी आचरण पर चला जाता है, जो उसके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है। यहाँ उसके ध्यान के पीछे उसका एक बहुत बड़ा स्वार्थ काम कर रहा है।

लेकिन उस प्रथम दर्शक का भी यद्यपि इस बात पर ध्यान जाता है, फिर भी उसके ध्यान की तीक्ष्णता इससे बहुत ही कम है। उसकी दिलचस्पी सिर्फ़ यही है कि किसी तरह उस बेकार अवस्था में उसे थोड़ा-सा हँस लेने का मौक़ा तो मिला! और जितनी उसकी दिलचस्पी थी उतना ही मन

वह इस बात में दे भी सका। पर सबसे पक्का आदमी तो है दर्शक नम्बर दो। उसका मन इससे भी गंभीर विषय में लगा हुआ है। उसे बीबी ने कहा था एक ब्रेसलेट लाने को, पर वह लाया तो नहीं, अतएव क्या जवाब देगा बेचारा! और ऐसे वक्त पर अटेन्शन की आवाज़ हो या एकाध डिवीज़न सेना ही क्यों न परेड कर जाय, पर उसे क्या? इसलिए ज़बर्दस्ती दिखाए जाने पर भी उसका ध्यान सिपाही के हास्यजनक आचरण-जैसी महत्त्वपूर्ण बात पर एकाध मिनट भी नहीं ठहर सका!

दिलचस्पी के आधार पर मनोयोग को भी दो प्रकार का कहा जा सकता है। इस हिसाब से पहला मनोयोग प्राथमिक अथवा मुख्य होगा और दूसरा होगा अप्रधान अथवा गौण। जो ध्यान स्वतः ही किसी वस्तु-विशेष पर चला जाय उसे साधारणतः प्राथमिक कहा जा सकता है। जो ध्यान जान-बूझकर किसी ओर लगाया जाय, उसे मोटे तौर पर गौण कह सकते हैं। ये भेद मौलिक नहीं, विज्ञान की सुविधा के लिए किए हुए हैं। प्रकृति में वस्तुतः इस तरह का कोई अन्तर देखने में नहीं आता।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के ध्यान या मनोयोग व्यक्ति के निजी स्वार्थ पर निर्भर हैं। प्राणिशास्त्रीय नियम के अनुसार जीव के लिए कुछ अनिवार्य आवश्यकताएँ स्वाभाविक हैं, जैसे भोजन और काम। इनके अलावा भी विद्वान् लोग तरह-तरह की प्रवृत्यात्मक आवश्यकताओं का जीवों में होना मानते हैं, जैसे वात्सल्य, गोष्ठी, निर्माण आदि संबंधी प्रवृत्तियाँ। इन सहज वृत्तियों से उत्पन्न स्वार्थ के अलावा जितने भी स्वार्थ हैं, उन्हें गौण कहा जाता है और तदनुसार गौण स्वार्थों से परिचालित मनोयोग भी गौण कहलाता है।

भूखा शेर जंगल में विचर रहा है, उसकी मूँछें तनी हुई हैं। आँखें चंचल हैं, कान चुस्त हैं और पाँव आगे बढ़ रहे हैं, वैसे ही ज़रा-सी खड़खड़ाहट होती है, उसके कान खड़े हो जाते हैं, उसकी आँखें आवाज़ की ओर जम जाती हैं और वह मूर्त्तिवत् थम जाता है। कई खरगोश तड़पकर एक बिल में घुस जाते हैं, और शेर का ध्यान उसी बिल-वाली जगह पर लगा है। उसके आसपास क्या हो रहा है, इसका उसे पता नहीं। उसकी पूँछ एक विशेष प्रकार से धीरे-धीरे किन्तु बेचैनी के साथ चतुर्दिक् फिर रही है और वह खड़ा है बिलकुल मनोयोगपूर्वक।

खरगोशों का भी मौत का परवाना कटा था, अतएव शेर ने उनमें से कई को धर दबोचा। तब पेट भर जाने पर वह समीप ही लेट रहा। कुछ समय बीतने पर देखते क्या हैं कि एक खरगोश उसकी पूँछ से खेल रहा है! किंतु शेर ने उसकी ओर एक बार अनमने भाव से सिर्फ़ देखा और लेट रहा! यह क्यों?

भूख एक प्रवृत्ति है, और जब तक उसकी परितृप्ति नहीं हुई, शेर की दिलचस्पी खाद्य-पदार्थ पर ही केंद्रित रही, और उसी अनुपात से उसका ध्यान भी खरहों पर रहा। किन्तु भूख मिटते ही दिलचस्पी भी कम हुई और उसी अनुपात में उसका मनोयोग भी उस वस्तु पर से कम हो गया। अस्तु, यह नियम हुआ कि मनोयोग की तीव्रता स्वार्थ की मात्रा के सीधे अनुपात से घटती-बढ़ती है।

गौण स्वार्थ उसे कहा जा सकता है, जो प्राथमिक स्वार्थों के कारण उत्पन्न तो ज़रूर हो, लेकिन स्वयं प्राथमिक स्वार्थ न हो। उदाहरण के लिए हम चित्रकारी ही को ले सकते हैं। कैनवास पर बने हुए चित्र को न खाया जा सकता है और न उससे चित्रकार की प्यास ही मिट सकती है, चाहे आँखों से उसका सौंदर्य-रस कितना ही क्यों न पिया जाय। फिर भी एक अच्छा दृश्य देखकर चित्रकार तुरन्त अपनी तूलिका उठाकर कैनवास पर उसे इतने मनोयोगपूर्वक अंकित करने लगता है कि खाना-पीना तक भूल जाता है। उसका यह मनोयोग गौण है और इसका मूल स्रोत चित्रकार के अन्दर कहीं-न-कहीं छिपा है। हो सकता है कि चित्रों के द्वारा ही उसकी जीविका चलती हो, अथवा उसकी कोई और आन्तरिक प्रवृत्ति इसके द्वारा सन्तुष्ट होती हो। लेकिन यह दिलचस्पी प्राथमिक नहीं, प्रत्युत् उत्पन्न अथवा प्राप्त है। अतएव चित्र पर उसका मनोयोग भी उत्पन्न अथवा प्राप्त मनोयोग ही है। किसी भी विद्यार्थी का अपने पाठ पर लगाया गया मनोयोग भी इसी प्रकार प्राप्त मनोयोग होता है।

संयोजनावादी मनोवैज्ञानिक मनोयोग को एक निष्क्रिय मानसिक घटना समझते हैं। उनके विचार से सक्रिया-त्मक रूप में कहीं मनोयोग नहीं किया जा सकता, और जो मनोयोग सक्रिय-सा दीखता है, वास्तव में वह भी निष्क्रिय मनोयोग के टुकड़ों का एक समूह होता है।

आइए, पहले यह बता दें कि संयोजनावादी मनो-वैज्ञानिकों का मौलिक सिद्धान्त क्या है। इनके विज्ञान को मानसिक रसायन कहा जा सकता है। जिस प्रकार रसायनशास्त्र में हर पदार्थ का विश्लेषण करके उसके अन्तिम मौलिक परमाणु पर पहुँचने की चेष्टा की जाती है, उसी प्रकार मानसिक क्रियाओं का भी विश्लेषण कर ये वैज्ञानिक उसके अन्तिम मौलिक टुकड़े पर पहुँचना चाहते

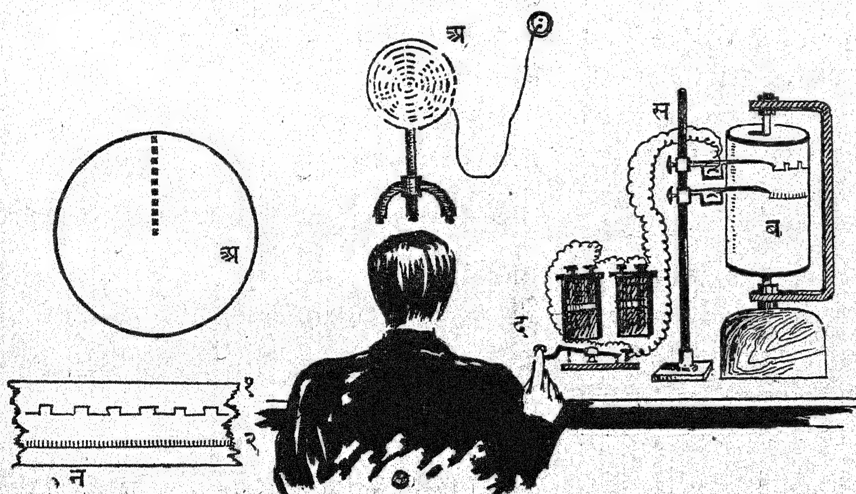
हैं। उनकी धारणा है कि ऐसे ही मौलिक टुकड़ों के योग से मानसिक क्रियाएँ बनी हुई हैं।

अतः मनोयोग के भी विश्लेषण की जब इन्होंने कोशिश की तो आख़िर इस परिणाम पर पहुँचे कि वह एक निष्क्रिय मानसिक क्रिया अथवा घटनामात्र है, जो बहुत थोड़े समय तक जमकर रह सकती है। साथ ही उसका निरन्तर विचलन अथवा ह्रास-वृद्धि का क्रम भी चलता रहता है।

यहाँ मनोयोग-विचलन के एक परीक्षण का संक्षिप्त विवरण हम दे रहे हैं। इसी पृष्ठ के चित्र के अनुसार एक वर्ण-चक्र(Colour Wheel)पर मैसन की एक डिस्क चढ़ा दो। यह मैसन की डिस्क दफ़्ती की एक चक्रफलक होती है जो बिल्कुल सादी होती है और जिस पर उसके केन्द्र-बिन्दु से परिधि तक एक ही रेखा में थोड़ी-थोड़ी दूर हटकर कई चौकोर छोटे-छोटे काले निशान बने होते हैं। वर्णचक्र एक तेज़ी से घूमनेवाला यंत्र होता है। इस चक्र पर चढ़ाकर डिस्क को घुमाने से गोल-गोल कई रेखाएँ नज़र आती हैं, जो इन्हीं निशानों के तेज़ी से घूमने की वजह से बन जाती हैं। अब प्रयोजक को चाहिए कि जिस पर परीक्षण करना हो उस पात्र को आराम से इसी चक्र के सामने बैठा दे और उस पर ध्यान जमाने को कहे। परिधि की ओर से केन्द्र की ओर तीसरे या चौथे चिह्न की रेखा बहुत अधिक मनोयोग देने ही से दृष्टिगोचर हो सकती है। पात्र को कहना चाहिए कि तुम इसी रेखा को देखो और उसे किसी भी हालत में दृष्टि से ओझल मत होने दो। मेज़ पर एक गतिलेखक-यंत्र (Kymograph) चालू कर दो। इसके साथ एक छोटी विद्युत् चुम्बकीय लेखनी (Electro-Magnetic Stylus) सटा दो, जिसका संबंध एक बिजली की चाबी से रहे। इस चाबी को पात्र के दाहिने हाथ के पास रख दो। उसे यह आदेश दे देना चाहिए कि जब तक उसे रेखा दिखलाई पड़ती रहे, वह उस चाबी को दबाए रखे, और ज्योंही वह लुप्त हो जाय, उसे छोड़ दे। फिर जैसे ही दिखलाई पड़े, पुनः चाबी को दबा दे। काइमोग्राफ़ पर अंकित चित्र के ठीक नीचे समयसूचक द्वारा समय का भी रेखाचित्र ले लो।

इस चित्र को देखने से मालूम होगा कि रेखा बीच-बीच में बराबर लुप्त होती और फिर दिखलाई पड़ती रही है। यानी पात्र का ध्यान रेखा पर से बीच-बीच में बराबर हटता जाता रहा है। इस प्रकार मिनिट में कई-कई दफ़े के हिसाब से ध्यान का विचलन होता है, जो भिन्न व्यक्तियों यंत्र में अलग-अलग होता है।

इससे भी सीधी एक और परीक्षा है, जिसे कोई भी व्यक्ति किसी तरह के यंत्रादि की झंझट किए बिना कर सकता है। किसी भी शाम को सूर्य डूब जाने के बाद, जबकि तारे दिखलाई पड़ना शुरू हुए हों, आप आसमान पर आँख जमाइए और कम-से-कम एक तारा ढूँढ़ निकालने की कोशिश कीजिए। लीजिए, आपने एक तारा पा लिया! तो फिर अब एक और तारा, जिस सूरत से भी हो, देखना ही होगा। पहले पहल कम-से-कम एक जोड़ा तारा देखने का ही नियम है! वह देखिए, वह एक और तारा-सा नज़र आ रहा है! हाँ, वह तारा ही तो है। पर यह क्या, वह पहला तारा तब तक क्या हो गया? आप पाएँगे कि बहुत ध्यान देने पर बीच-बीच में वह तारा दिखलाई पड़ता है और फिर लुप्त हो जाता है। अर्थात् आपके ध्यान की लगातार ह्रास-वृद्धि हो रही है।



मनोयोग - विचलन संबंधी एक प्रयोग

अ—मैसन की डिस्क; ब—गतिलेखक यंत्र या काइमोग्राफ़; स—विद्युत् चुम्बकीय लेखनी; द—चाबी; न—काइमोग्राफ़ पर अंकित रेखाचित्र (१. विचलन का रेखांकन; २. समय का रेखांकन)। (विशेष विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए।)

हाँ, तो संयोजनावादी मन के अन्दर इच्छा नाम की क्रियात्मक शक्ति का भी होना नहीं मानते। उनका मत है कि नाना प्रकार के संवेदनों के योग से ही मानसिक अनुभव होते हैं, तथा विचार करने, इच्छा करने और काम करने के लिए हम स्वतंत्र नहीं हैं। इस प्रकार ये गीता के "कर्मण्येवाधिकारस्ते" वाले सिद्धान्त की जड़ पर ही कुठाराघात करते हैं। मनुष्य का सारा व्यक्तित्व निष्क्रिय संवेदनादि प्राकृतिक घटनाओं का एक मेल है। लेकिन, आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि इस मतवालों के परीक्षणों का एकमात्र आधार है अन्तर्दर्शन। अगर मन की किसी क्रिया के संबंध में आपको वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना है तो आपको अपना सारा ध्यान अपने भीतर की ओर लगा देना होगा और यह विश्लेषण करने की चेष्टा करना पड़ेगा कि आपके मन के अन्तर्गत क्या हो रहा है। प्रयोजक ऐसा ही कुछ आदेश आपको देगा—"आप अपनी सारी शक्ति को इसी बात पर जमा दीजिए कि जिस समय मैं आपके हाथ पर चिकोटी काटता हूँ तो देखिए कि आपको क्या अनुभव होता है" आदि। अब आप मन की निष्क्रियता वाले सिद्धान्त के साथ इस बात को मिलाकर देखिए। एक ओर तो वे लोग कहते हैं कि मनोयोग निष्क्रिय है, लेकिन फिर वही आपको कहते हैं कि आप इस पर पूर्ण मनोयोग भी दीजिए!

यहाँ पर, चलते-चलते, एक और बात की ओर इशारा कर देना उचित होगा। संयोजनावादियों की उपर्युक्त हास्यजनक स्थिति का कारण एक साधारण मनोवैज्ञानिक तथ्य है। वैज्ञानिक सत्य पर पहुँचने के लिए पहले वस्तुओं का गम्भीर निदर्शन किया जाता है, तत्पश्चात् उनका सामान्यीकरण होता है और अंत में सिद्धान्त-निर्माण होता है। लेकिन सिद्धान्त बन जाने के बाद सिद्धान्त-निर्माता को अपनी इस सफलता पर इतनी ख़ुशी होती है कि आगे की भी प्रत्येक घटना को इसी सिद्धान्त पर घटाने की उसकी प्रवृत्ति होती है। नतीजा यह होता है कि अधिकतर अवलोकित तथ्यों के विपर्यय के बावजूद भी इस सिद्धान्त को छोड़ा नहीं जाता, वरन् उसी सिद्धान्त पर तोड़-मोड़कर इस नए तथ्य को बिठा देने की चेष्टा होती है। ऐसी अवस्था के आने पर विज्ञान जहाँ का तहाँ स्थगित-सा हो जाता है और वह पुनः आगे तब बढ़ता है जबकि फिर से आँखें खुलती हैं। हमारे संयोजनावादी मनोवैज्ञानिकों की भी अन्त में यही अवस्था हुई, जिसके कारण उनके अधिकतर सिद्धान्त खटाई में पड़ गए।

अतः हमने यह तय पाया कि मनोयोग एक बिल्कुल निष्क्रिय मानसिक घटना नहीं वरन् गतिशील क्रिया है और इसके घटाने-बढ़ाने, किसी ख़ास ओर को लगाने, या खींच लेने आदि पर व्यक्ति का कुछ दूर तक हाथ अवश्य रहता है। मनोयोग की उच्चतम अवस्था को ही समाधि कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति आसपास की बड़ी-से-बड़ी घटनाओं तक को विस्मृत कर देता है और एक ही बात, जिस पर कि वह ध्यान जमाता है, उसकी सम्पूर्ण मानसिक क्रियाओं का केन्द्र-विन्दु हो जाती है। समाधि की अवस्था में मैसन की डिस्क द्वारा आज तक परीक्षण नहीं किया गया। यदि किया जाय तो काफ़ी दिलचस्प होगा।

कुछ मनोविज्ञान-विशारदों का मत है कि मनोयोग की तीव्रता किसी भी घटना की तीव्रता एवम् उसके सहसा होने पर निर्भर करती है। बात कुछ हद तक ठीक अवश्य है, लेकिन हर हालत में नहीं। सड़क के किनारे अपने कमरे में बैठकर परीक्षा के लिए पाठ याद करते हुए विद्यार्थी के सामने से कानों के पर्दे को फाड़नेवाली आवाज़ करते हुए बड़े-बड़े टैंक निकल जाते हैं, फिर भी वह विद्यार्थी निमग्न रहता है अपने पाठ्य विषय की रट में ही! और एक टैंक के चलने की आवाज़ कम-से-कम आधे मील तक के लोगों का ध्यान भंग कर देने के लिए काफ़ी होती है, लेकिन वही उस विद्यार्थी का ध्यान तक नहीं खींच सकी! परन्तु वही विद्यार्थी जब पढ़ रहा हो, और सामने खिड़की से कुछ दूरी पर थोड़ी-थोड़ी आग की रोशनी-सी दिखलाई पड़ती हो, तो पढ़ने की कोशिश करने पर भी उसका ध्यान उसी आग की ओर दौड़ जाता है। अचानक उसके मुँह से निकलता है—"आग!!" और पढ़ना-लिखना छोड़कर वह दौड़ पड़ता है! यह क्यों?

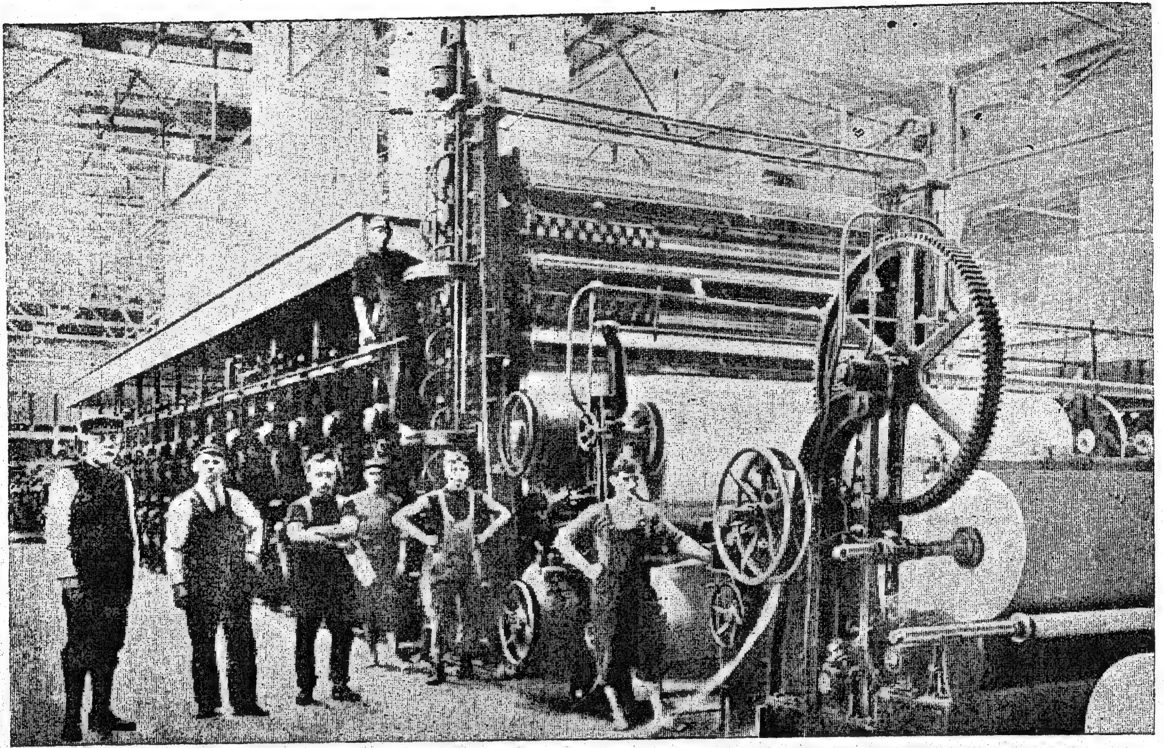
आपने देखा कि टैंक की आवाज़ एक अत्यधिक तीव्र घटना थी और यदि उपर्युक्त नियम ठीक होता तो विद्यार्थी का ध्यान उसी पर चला जाना चाहिए था। उधर आग की लपटों का दूर से दिखलाई पड़नेवाला दृश्य बहुत-ही धुँधला था, अतएव उस पर शायद उसका ध्यान जाना ही नहीं चाहिए था। फिर भी हुआ वही जो इस नियम को ग़लत साबित करता है। यही तो वैज्ञानिकों के सिद्धान्त की मौत है।

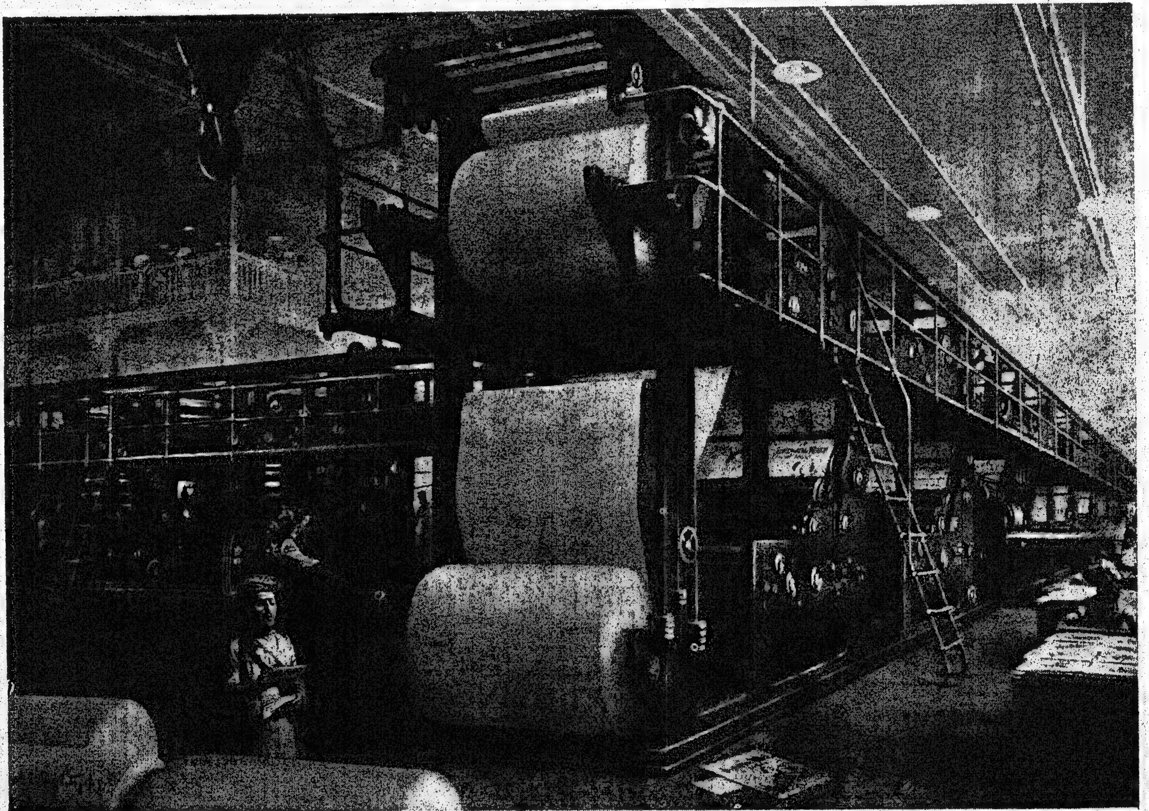
मन का एक और भी गुण है हर चीज़ में अर्थ खोजना। जिस चीज़ की ओर मन जाता है, उसमें कोई-

न-कोई अर्थ वह अवश्य खोज निकालता है और जब तक वह उसमें अर्थ नहीं पाता, एक अस्थिरता का अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रकृति का नियम ही है हर वस्तु एवं क्रिया में संतुलन की स्थापना करना और कोई भी वस्तु तब तक अस्थिरता की अवस्था में रहती है, जब तक कि उसे एक प्रकार का संतुलन प्राप्त नहीं हो जाता। मन भी सर्वदा ऐसा ही समतौल प्राप्त करने को उद्ग्रीव रहता है। जब किसी वस्तु विशेष पर हमारा ध्यान जाता है तो जब तक उस वस्तु का अर्थ हम नहीं पा लेते, तब तक हमारा ध्यान चाहे तो उसी पर जमा रहता है अथवा उससे उचट भी जाता है। अर्थ पा लेने के बाद जो ध्यान उस वस्तु पर रह जाता है, वह उत्पन्न अथवा प्राप्त ध्यान है और खोजने पर पता चलेगा कि अभी भी उस वस्तु से कुछ स्वार्थ पूरा होने को बाक़ी है। उदाहरण के लिए आप निम्न घटना को ले सकते हैं। आप नदी के किनारे-किनारे एक जंगल से गुज़र रहे हैं। इसी समय दूर से आती हुई किसी चिड़िया की बोली आपको सुनाई पड़ती है। आप अपना दूरबीन उठाते हैं और उस स्थान की ओर फ़ोकस करने की कोशिश करते हैं। आपका सारा ध्यान इसी पर जमा हुआ है। तब ज्योंही आपके दूरबीन की गोलाई के भीतर कोई उड़ती हुई चिड़िया दिखलाई पड़ती है, आप और भी ध्यान-पूर्वक उसे देखने लगते हैं तथा शीशे को आगे-पीछे करते हुए दूरबीन का फ़ोकस उसी ओर किए जाते हैं, जिधर को चिड़िया उड़ रही है। लीजिए, अब साफ़ हो गया। यह एक सुर्ख़ाब है! साथ ही आपकी उत्सुकता भी समाप्त हो गई। दूरबीन आपने छोड़ दिया, और आप पुनः आगे बढ़ चले। आप उस बात पर तभी तक मनोयोग दे सके जब तक आपने उस दूर से आती हुई आवाज़ और उड़ती हुई चीज़ को जान नहीं लिया। लेकिन यदि उसी समय आपके हाथ में बन्दूक़ भी है और जेब में कारतूसें भी, और यह सुर्ख़ाब आपको दरकार है तो आप इसे ज़रूर मारेंगे। ऐसी हालत में इसे पहचान लेने से ही आपकी दिलचस्पी ख़त्म नहीं हो जाती और न उस पर से आपका ध्यान ही हट जाता है। बल्कि यह सुर्ख़ाब है, यह जानकर आपका ध्यान और भी केन्द्रित होकर उसी पर जम जाता है। अगर यह एक कौवा होता या चील होती तो अवश्य आपने उसकी ओर दुबारा देखा भी न होता। हाँ, तो यह लो आपने उसे मार ही डाला और उठाकर नौकर को दे दिया और अब आप फिर चलते हुए। अब आपका ध्यान पुनः दूसरी ओर चला गया। किन्तु आपके नौकर का ध्यान आपके इस कृत्य पर गया ही नहीं—उसे आपके इस महान् कर्म से कुछ भी दिलचस्पी नहीं। वह तो सोच रहा है, किसी तरह घर लौट चलते तो थकावट मिटती। लेकिन अगर उसे भूख लगे और खाने का और कोई उपाय न हो, तो संभवतः वह भी मनोयोगपूर्वक एक भागती हुई मुर्ग़ी के पीछे दौड़ेगा।

हमारी दिलचस्पी एक समय में एक ही वस्तु में हो सकती है। आप कह सकते हैं कि आपने स्वयं एक साथ ही एक किताब भी पढ़ी है और अपने एक दोस्त से गप्पें भी लगाई हैं। हमें आपकी बात स्वीकार है। हमने भी ऐसा एक आदमी देखा है जो ख़ुद भी चिट्ठी लिख रहा है, और दूसरे को चिट्ठी का मज़मून बोलता भी जा रहा है। शायद हिन्दी के पुराने पत्रकार पं० अम्बिकादत्त व्यास एक साथ बीस काम कर सकते थे! हमें नहीं मालूम, कहाँ तक वह बात ठीक है। लेकिन हम इतना आपको बता देना चाहते हैं कि अगर आप कभी ऐसा होते देखें तो यह जानने की कोशिश करें कि क्या सच ही एक से अधिक काम एक साथ हो रहे हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिस वक़्त चिट्ठी लिखी जा रही है उस वक़्त ध्यान तो चाहे उसी पर हो, परन्तु उसका मज़मून पहले ही सोचा जा चुका है और हाथ अपने आप उसे लिख रहा है? ऐसी हालत में आप अधिक-से-अधिक इतना ही कह सकते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़ी ही तेज़ी के साथ अपने ध्यान को एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ा सकता है। चूँकि उसका ध्यान बड़ी जल्दी-जल्दी कई विषयों पर आ जा रहा है, इसीलिए आप भ्रमवश समझते हैं कि इन सब पर वह एक साथ ही ध्यान दे पा रहा है।

अगर बातें करते हुए कोई ऐसा शब्द आपके मुँह से निकल पड़े, जिसका वहाँ रहना हास्यास्पद होने के सिवा और कोई अर्थ नहीं देता हो तो कृपया आप ज़रा गौर करने की कोशिश कीजिए। आप पाएँगे कि वह आपके आगे के सोचे हुए किसी विचार का छूटा हुआ कोई शब्द है। यही बताइए कि क्या आपका ध्यान अविचलित रूप से इस सारे लेख पर ठहरा रहा? अगर नहीं तो जानने की कोशिश कीजिए कि कितनी देर तक एकटक आपका ध्यान बिना टूटे हुए इस पर जमा रह सका? इस तरह के दो-एक परीक्षणों से आप जान सकेंगे कि बग़ैर टूटे कितनी देर तक एक वस्तु पर ध्यान जमा रह सकता है।





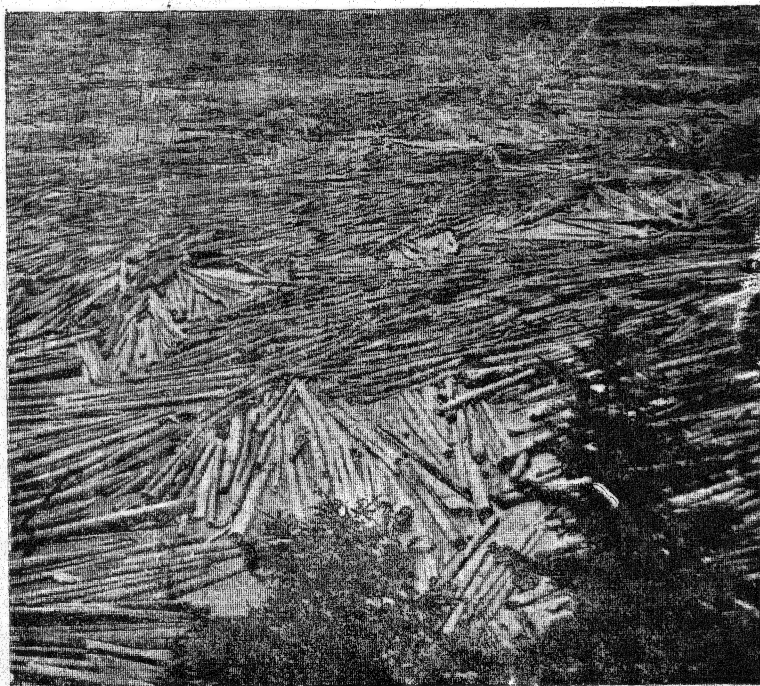
ज्ञान-निधि का रखवाला काग़ज़ कारखाने से छापाखाने में, जहाँ आकर उसका निर्माण सार्थक होता है !
चित्र में ऊपर एक विशाल काग़ज़ बनानेवाली मशीन और नीचे छापाख़ाने की एक भीमकाय रोटरी मशीन प्रदर्शित है। दोनों पर मीलों लंबी काग़ज़ की रीलें चढ़ी हुई हैं—किसलिए ? केवल छपकर ज्ञान का प्रचार करने के लिए !



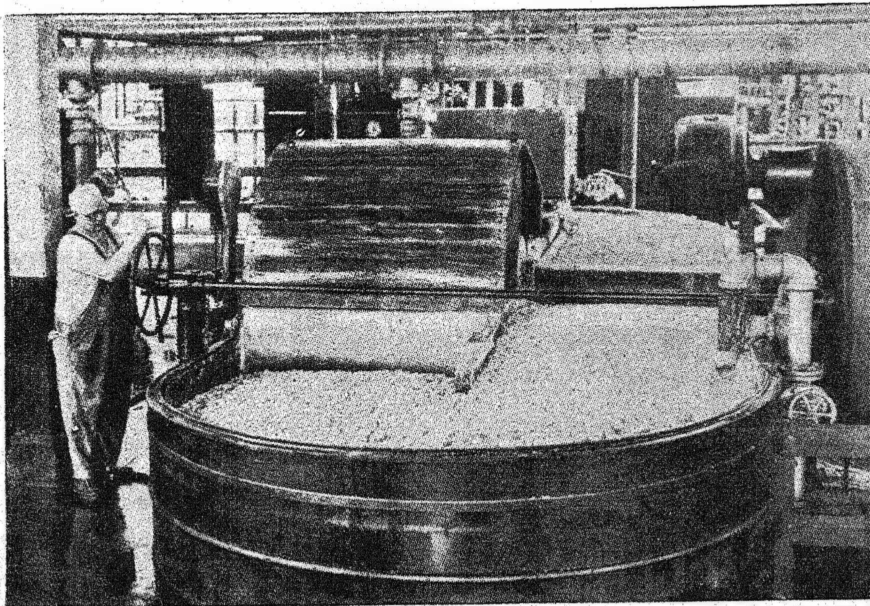
ज्ञान का संरक्षक और प्रचारक--काग़ज़

वह कौन सी वस्तु है, जिसकी बदौलत आज न केवल सामयिक विचारधाराओं बल्कि दुनिया के सभी देशों और समस्त युगों के अब तक के संचित सारे ज्ञान की अमूल्य निधि का ख़ज़ाना मानों घर-घर में खुल गया है? आइए, प्रस्तुत लेख में उसी अनोखी वस्तु से आपका परिचय कराएँ, जो दरअसल हमारी आज की सभ्यता की नींव की ईंट बनी हुई है।

प्रकृति की अपूर्व देन जल के बिना जिस प्रकार जीवधारियों की दुनिया कदापि क़ायम नहीं रह सकती, ठीक उसी प्रकार काग़ज़ के बिना हमारी वर्त्तमान सभ्यता की इमारत का भी टिक पाना संभव नहीं है। काग़ज़ के बिना ज्ञान का प्रचार होना इन दिनों असंभव ही प्रतीत होता है। ज़रा कल्पना तो कीजिए कि यदि सभ्य संसार से आज काग़ज़ विलुप्त हो जाय, तो हमारी क्या दशा होगी! कहाँ तक हम भोजपत्र, ताम्रपत्र अथवा चमड़े या रेशम के पट पर पुस्तकें या समाचारपत्र छापते फिरेंगे? आज समस्त संसार का ज्ञान काग़ज़ की पोथियों में ही लिपिबद्ध है। साहित्य-विज्ञान, इतिहास-दर्शन, व्यापार-व्यवसाय, नीति-धर्म, समाज-राजनीति सभी-कुछ तो काग़ज़ के ही बल पर टिके हुए हैं। तभी तो ब्रिटिश म्यूज़ियम के पुस्तकालय की दीवाल पर लिखा है कि "आप के हाथ में जो पुस्तक है, उसे बहुत सँभालकर पढ़िये, यह स्वर्ण से भी अधिक मूल्यवान् है। यदि काग़ज़ न हो तो आधुनिक सभ्यता की ऊँची अट्टालिका क्षण में धराशायी हो जायगी। यह जंगली दशा से हमें उच्च शिक्षित अवस्था तक पहुँचाने के लिए मानों एक पुल का काम देता है; अराजकता से सुशा-



आपने 'पल्प' नामक एक वस्तु का नाम सुना होगा---यही वस्तु काग़ज़ की नींव है, और वह बनती है पेड़ों के लट्ठों से। चित्र में जो हज़ारों लट्ठे नदी में तैरते दिखाई दे रहे है, वे इसी उद्देश्य से एक पेपर-मिल को ले जाए जा रहे हैं।



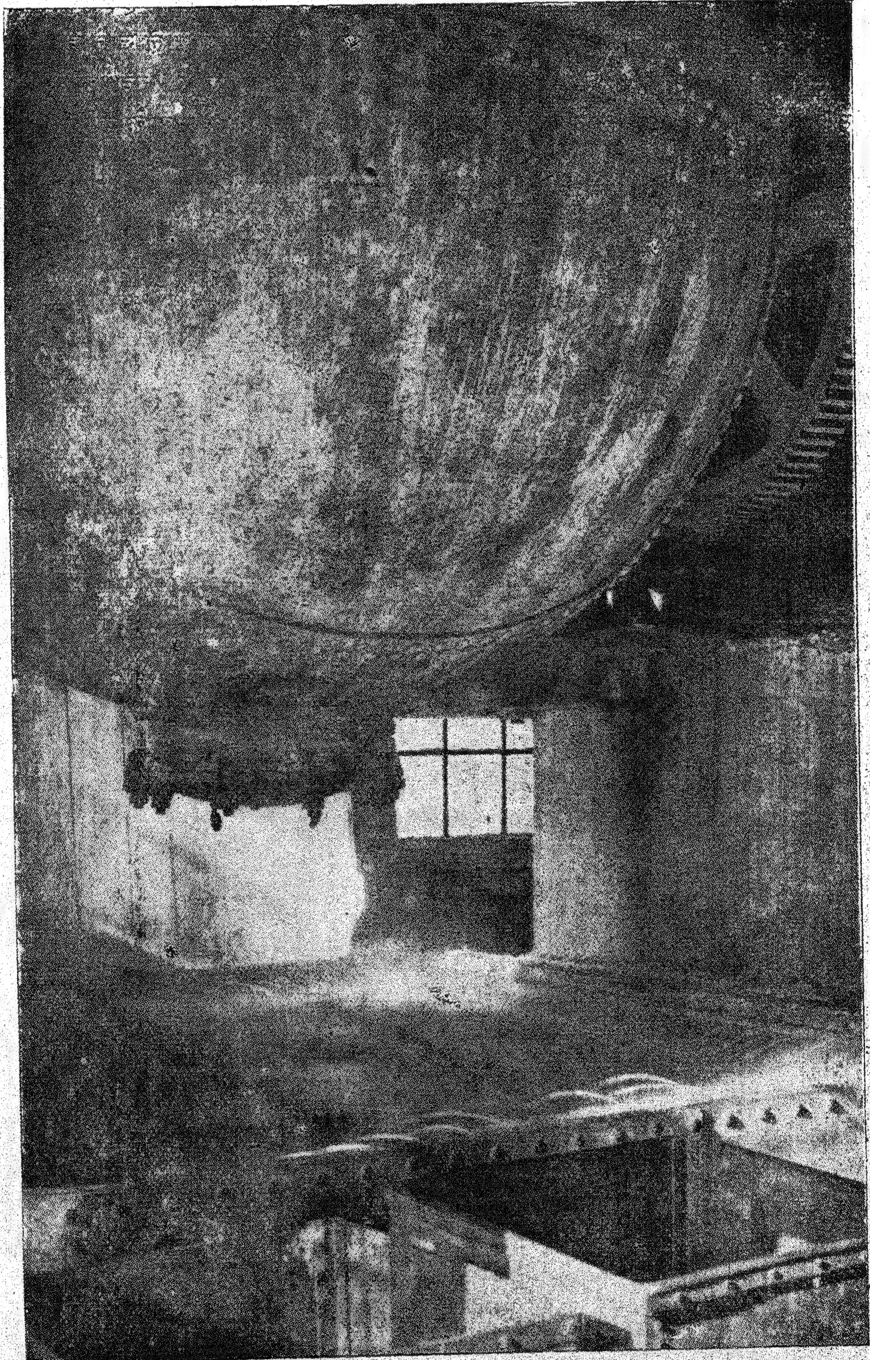
इस विशेष प्रकार की मशीन द्वारा लकड़ी को चिपटों को और भी छोटे-छोटे टुकड़ों में काट-काटकर उसकी लुगदी बनाई जाती है, जो कि काग़ज़ बनाने का ख़ास मसाला है।

सन, तथा उत्पीड़न की दशा से स्वतंत्रता की स्थिति तक इसी के सहारे हम पहुँच सकते हैं। इसके बिना हमें वह प्रोत्साहन नहीं मिल पायगा, जिससे कि मनुष्य के हृदय में महान् कार्यों को करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। हमें सोचना चाहिए कि काग़ज़ का वास्तविक महत्त्व कितना अधिक है।"

तो फिर आइए, देखें कि ज्ञान-प्रचार के इस ज़बर्दस्त साधन का आविष्कार कब और कैसे हुआ। विचारों को लेखबद्ध करने की अभिलाषा मनुष्य के हृदय में उस सुदूर अतीत के युग में ही जन्म ले चुकी थी, जब वह खोह-कन्दराओं में अपना जीवन-यापन करता था। उन दिनों कन्दराओं की दीवारों में पत्थर की छेनियों से खोदकर चित्रमय संकेतों द्वारा ही उसने अपने विचार अंकित करने शुरू किए थे। इस चित्र-लेखन कला में मिस्र-निवासियों ने विशेष उन्नति की थी। तदुपरान्त मिट्टी की तख़्तियों और धातु के पत्तरों पर भी खुदाई करके लिखने की तरक़ीब ईजाद की गई। प्राचीन मिस्र और बेबीलोनिया में तो राजकीय व्यवहार में भी मिट्टी की तख़्तियाँ क़ानूनी लिखा-पढ़ी के लिए काम में लाई जाती थीं। वहाँ टैक्स वसूल करनेवाला मुंशी टैक्स की वसूली की रसीद ऐसी ही तख़्तियों पर बनाया करता। किन्तु वह बेचारा जब टैक्स वसूल करने के लिए शहर में जाता तो साथ ही एक गदहे पर ढेर-सी ऐसी मिट्टी की तख़्तियाँ लादकर ले जाता! इन्हीं पट्टियों पर खोदकर उसे प्रत्येक टैक्स देनेवाले को टैक्स की वसूली की रसीद तैयार करके देना पड़ता था। कालान्तर में लगभग साढ़े पाँच हज़ार वर्ष पूर्व मिस्र-निवासियों ने 'पेपायरस' नामक एक विशेष जाति की घास के रेशों को भिगोकर और उन्हें कूटकर ताने-बाने के रूप में बारीक चटाई की भाँति बुनकर तथा उन्हें इतना चिकना बनाकर कि उनकी सतह पर लिखना सम्भव हो सके, एक प्रकार का काग़ज़ बनाना शुरू किया। काग़ज़ के लिए प्रयुक्त अंग्रेज़ी शब्द 'पेपर' इसी 'पेपायरस' शब्द से निकला है। सिकन्दर महान् ने मिस्र से ढेरों ऐसा 'पेपायरस' लिखने के लिए यूनान मँगवाया था। इसी ज़माने में योरप में 'पेपायरस' का सर्वप्रथम आगमन हुआ। पर ठीक इन्हीं दिनों चीन में सड़े-गले रेशम से काग़ज़ तैय्यार किया जा रहा था। ऐसा जान पड़ता है कि घास और शहतूत की छाल के रेशे से भी चीन-निवासी काग़ज़ तैय्यार करना जानते थे। आठवीं शताब्दी में अरब के कुछ सेनानायक युद्ध करके चीन से कुछ ऐसे कारीगर बन्दी के रूप में अरब ले आए जो रेशे से काग़ज़ बनाना जानते थे। इससे मानों एक भारी समस्या हल हो गई। घरेलू कारीगरी के पैमाने पर स्थापित हुई अरब की काग़ज़ की इन फ़ैक्टरियों को हम योरप के काग़ज़-व्यवसाय का अग्रदूत कह सकते हैं—यहीं से सबसे पहले काग़ज़ बनाने की कला मूर लोगों द्वारा स्पेन पहुँची, जहाँ योरप की काग़ज़ की सर्वप्रथम फ़ैक्टरी

खुली। फिर तो धीरे-धीरे योरप और अमेरिका में काग़ज़ के व्यवसाय ने चरम उन्नति प्राप्त कर ली।

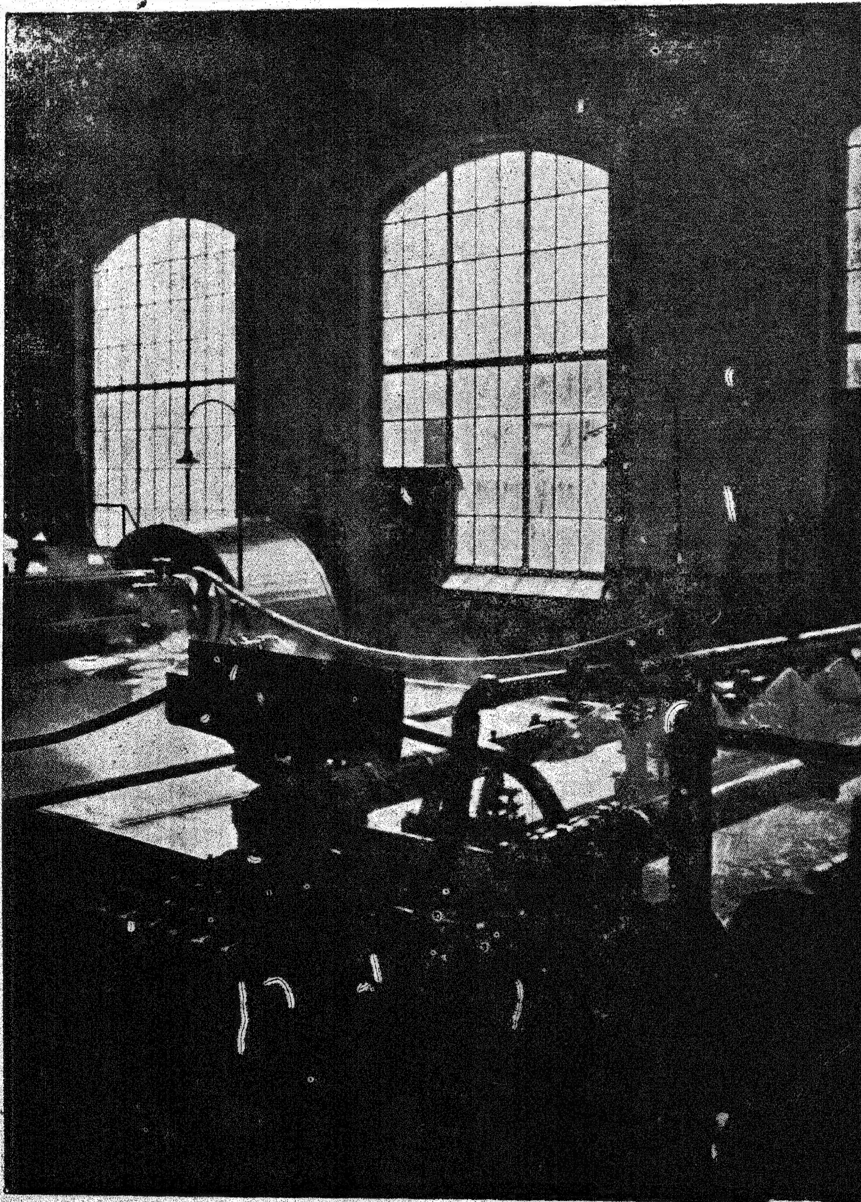
प्रारम्भिक दिनों में फटे चीथड़ों और स्पेन की 'एस्परेटो' नामक घास के रेशे से ही हाथ से काग़ज़ बनाया जाता था। किन्तु शिक्षा के प्रसार ने जब काग़ज़ की माँग बेहद बढ़ा दी, तब उसके निर्माण के लिए नए-नए साधन ढूँढ़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई। साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि चीथड़ों और एस्परेटो घास पर कच्चे माल के लिए आश्रित रहकर पर्याप्त मात्रा में काग़ज़ तैय्यार नहीं किया जा सकता। इस समस्या को हल करने के लिए आख़िर रेशम के कीड़े से सबक़ सीखा गया। रेशम का कीड़ा शहतूत की पत्तियाँ खाकर उन्हें एक लसीले पदार्थ में परिणत कर देता है, जो उसके शरीर से बाहर निकलकर इस योग्य हो जाता है कि उसके रेशे काते जा सकें। काग़ज़ के व्यवसायियों ने भी जंगल की लकड़ी के गूदे को रेशम के कीड़े के ढंग से एक लसीले पदार्थ में परिणत करने की तरकीब ढूँढ़ निकाली, जिससे काग़ज़ तैयार हो सके। आज दिन इस काम के



दाहिनी ओर के चित्र में जिस विशाल ढोल-नुमा पात्र का एक भाग दिखाई दे रहा है, ऐसे अनेक कंडाल किसी भी आधुनिक काग़ज़ बनाने के बड़े कारख़ाने में लगे रहते हैं, जिनमें चिथड़ों या पल्प बनानेवाली लकड़ी के छोटे-छोटे चिपटों को विविध रासायनिक द्रव्यों के साथ भाप की गर्मी से पकाकर और ख़ूब मंथन करके वह घोल बनाया जाता है, जिससे कि काग़ज़ बनता है।

लिए आधुनिक मशीनें जंगल के विशाल वृक्षों के लट्ठों को काटकर उनकी लुगदी बनाती हैं. उस लुगदी को साफ़ करती हैं, कूटती-छानती हैं, और उससे एक पनीला मिश्रण तैयार करती हैं, जिससे अन्त में दूध की भाँति सफ़ेद काग़ज़ के लम्बे-लम्बे वर्क़ तैयार हो जाते हैं।

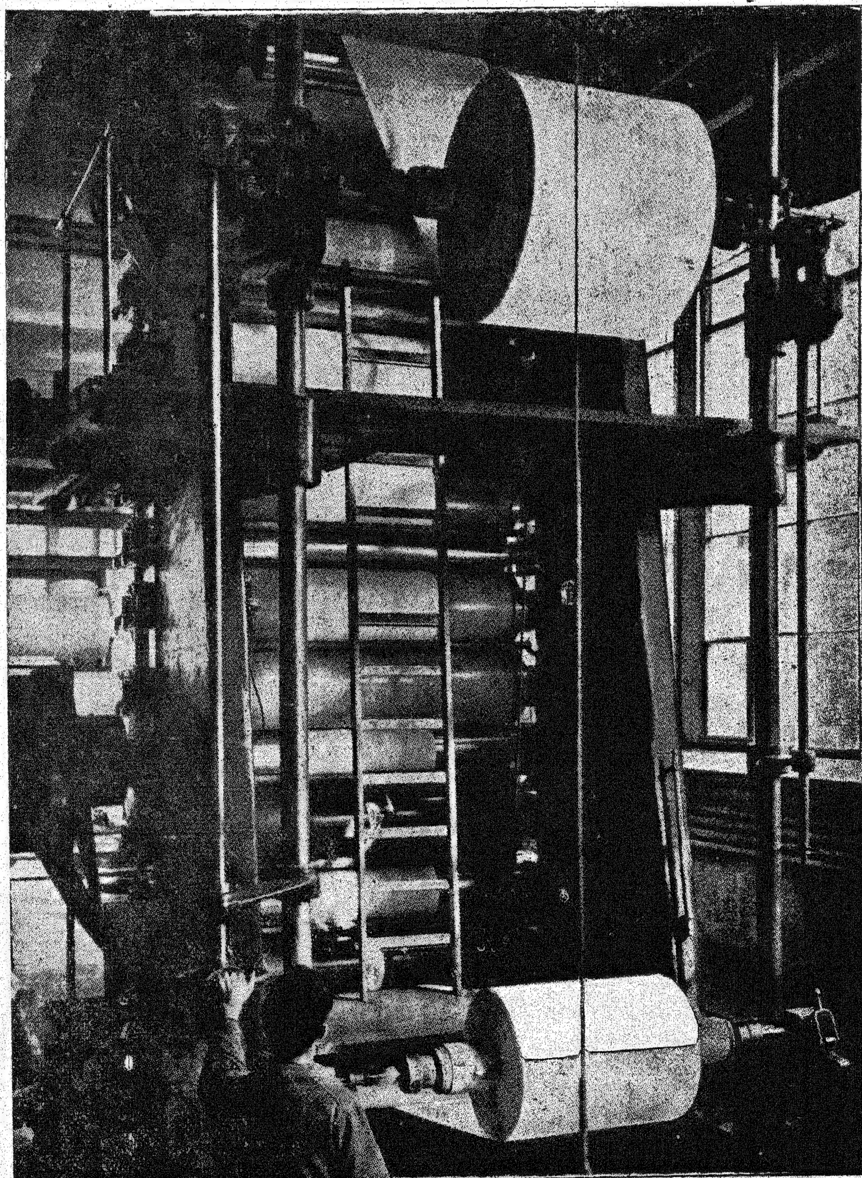
उदाहरण के लिए कनाडा की एक काग़ज़ की फ़ैक्टरी का हम आपको दिग्दर्शन कराएँगे। इस फ़ैक्टरी के लिए पहले जंगलों से लगभग १५ फ़ीट लम्बे और १० इंच व्यास के लकड़ी के लट्ठे काटे जाते हैं, जो नदियों में बहाकर फ़ैक्टरी तक पहुँचाए जाते हैं। फ़ैक्टरी के हाते में पहुँचने पर ये लट्ठे जल में डाल दिए जाते हैं। तब एक घूमती हुई ज़ंजीर के सहारे ये उस जगह पहुँचते हैं, जहाँ विद्युत्शक्ति द्वारा तीव्र गति के साथ कई आरे चलते रहते हैं। ये आरे इन्हें चार-चार फ़ीट के समान टुकड़ों में काट डालते हैं। तदुपरान्त ये टुकड़े एक ढोलनुमा 'रोटेटर' में डाले जाते हैं। उस ढोल के निरन्तर घूमने के कारण ये सब आपस में ख़ूब रगड़ खाते हैं और इस प्रकार रगड़ के कारण इनकी छाल उतर जाती है। तदुपरान्त एक तेज़ पानी की धार द्वारा उनके ऊपर से छिलके पूर्णतया अलग कर दिए जाते हैं। तब कुछ दिनों तक धूप में रखे रहने पर जब ये अच्छी तरह सूख जाते हैं, तो इन्हें पत्थर के कई चक्कों के नीचे डालकर इनके छोटे-छोटे टुकड़े कर डालते हैं, जिस प्रकार कि इमारती काम के लिए चूने के कंकड़ों के टुकड़े किए जाते हैं। इस क्रिया



काग़ज़ बनाने की मशीन का आरंभिक या गीला सिरा

इस सिरे पर लुगदी-मिश्रित पनीला द्रव्य लाकर एक पतली-सी पर्त्त के रूप में फैलाया जाता है, जो आगे चलकर क्रमशः सूखता हुआ मनचाही मोटाई के काग़ज़ में परिणत हो जाता है।

के समय चक्के के नीचे भी पानी डालते रहते हैं। इस प्रकार अन्त में उस सारी लकड़ी की लुगदी बन जाती है। इस लुगदी को तैयार करने के लिए एक रासायनिक रीति भी काम में लाई जाती है। इसके लिए सबसे पहले लकड़ी को वृत्ताकार परिधि में लगातार घूमती हुई एक तेज़ धार से इंच-डेढ़ इंच की चिपटों में बराबर काट लेते हैं। अब इन चिपटों को लोहे के कई मज़बूत कण्डालों में डालते हैं। ये कण्डाल १५ फ़ीट व्यास के होते हैं और इनकी ऊँचाई ५० फ़ीट तक पहुँचती है। इनकी भीतरी सतह पर एक विशेष प्रकार की ईंटें लगी होती हैं जिन पर तेज़ाब का प्रभाव नहीं होता। इन कण्डालों को ऊपर-नीचे से एकदम बन्द करके उसमें ज़ोरों के साथ भाप को प्रवेश कराते हैं, ताकि लकड़ी की वे चिपटें गर्म हो जायँ। इस भाप के प्रवेश के पहले उन चिपटों के साथ एक नियत मात्रा में सल्फ़रडाइ-ऑक्साइड, पानी और कैल्शियम - बाइ-सल्फ़ेट भी मिला देते हैं। लगभग बारह-पन्द्रह घण्टे तक चुर जाने के बाद उन चिपटों के रेशे गलकर लुगदी के रूप में बदल जाते हैं। तदनन्तर उस लुगदी को कंडाल से बाहर निकाल साफ़ पानी में धो लेते हैं, ताकि रासायनिक द्रव उसमें लगे न रह जायँ। चाहे यह लुगदी यांत्रिक रीति से प्राप्त की गई हो, या रासायनिक रीति से, उसे कई बार तार की छलनी से छानना होता है ताकि बड़े आकार के रेशे अलग कर दिए जा सकें। अब एक-साँ ही आकार के रेशोंवाली यह लुगदी पानी के हौज़ में रखी जाती है। यहाँ पर इसमें कुछ रंगीन पदार्थ इसलिए मिलाए जाते हैं कि उसका स्वाभाविक पीला रंग दूर होकर एकदम श्वेत हो जाय। तदनंतर फिटकरी और चीनी

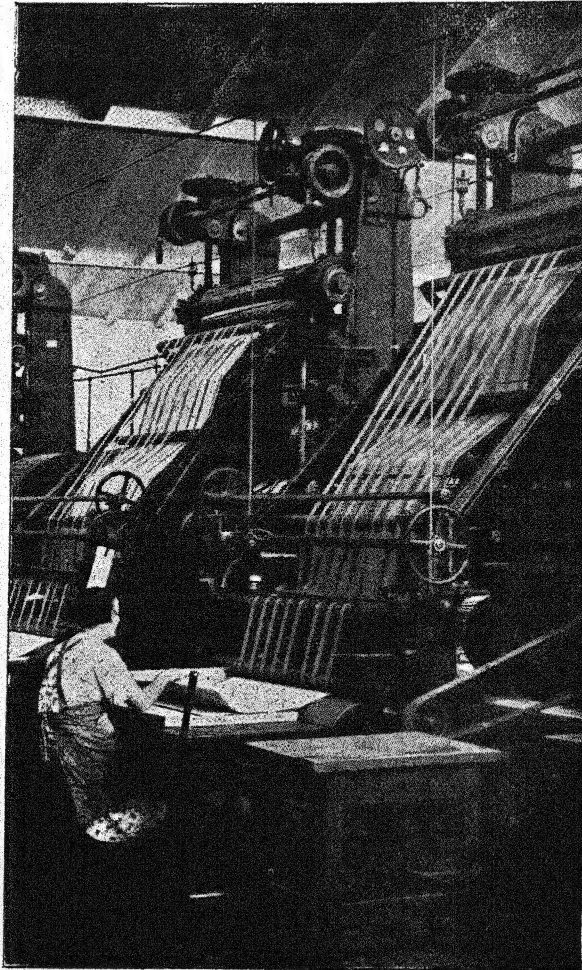


काग़ज़ बनाने का मशीन का अंतिम या सूखा सिरा

लगातार बनते चले आ रहे काग़ज़ को इस सिरे पर आकर कई बड़े-बड़े रोलरों के बीच में से होकर गुज़रना पड़ता है, जिससे वह दबकर अच्छी तरह चिकना और समतल हो जाता है। तदनंतर वह बड़ी-बड़ी रीलों में लपेटकर काटने के लिए भेज दिया जाता है।

मिट्टी भी कुछ मात्रा में लुगदी के साथ मिला देते हैं ताकि उसमें आवश्यक चिकनाहट आ जाय। इसके बाद यह लुगदी काग़ज़ के रूप में ढाले जाने के लिए पूर्णतया उपयुक्त हो जाती है।

तैयार हो जाने पर यह लुगदी, जिसमें १०० भाग पानी और एक भाग लकड़ी का रेशा रहता है, मशीन के प्रवेश-मुख (फ़्लो-बाक्स) में डाली जाती है। फ़्लो-बाक्स के पेंदे में एक आड़ी झिरी कटी हुई होती है। इसी झिरी में से लुगदी दूध की धार की तरह एक-साँ गति से नीचे पतले तार की छलनी के बेल्ट पर गिरती है। यह बेल्ट आगे को घूमता रहता है—फलस्वरूप लुगदी की एक पतली तह बेल्ट पर सामने की ओर बढ़ती चली जाती है। इस छलनी में प्रति इंच ६६ तार ताने के और ६६ बाने के लगे रहते हैं! इस छलनी की चौड़ाई २७ फ़ीट और लम्बाई १०० फ़ीट के क़रीब होती है, और उसका बेल्ट नीचे लगे हुए बेलनों के सहारे आगे बढ़ता है। ज्यों-ज्यों छलनी आगे बढ़ती है, लुगदी का पानी नीचे को रिसता जाता है। लुगदी का पानी खींचने के लिए रोलरों के बाद ही कुछ बक्स बेल्ट के नीचे लगे रहते हैं—इन बक्सों के अन्दर आंशिक वेकुअम उत्पन्न करके लुगदी का पानी खींच लेते हैं। इस मंज़िल तक आते-आते लुगदी की एक तह-सी जमने लग जाती है। यहीं से तार की जाली के बेल्ट नीचे लौट जाते हैं और लुगदी की तह फ़ेल्ट की पेटी पर कुछ दूर और आगे बढ़कर तीन जोड़े रोलरों में से होकर गुज़रती है। ये दोहरे रोलर लुगदी की पर्त्त में से (जो अब काग़ज़ के रूप में है) पानी को दबाकर निचोड़ लेते हैं। इन्हें 'प्रेस-रोलर' के नाम से पुकारते हैं। प्रेस-रोलर से गुज़रने के बाद भी काग़ज़ में ६० प्रतिशत पानी का अंश शेष रहता है, किन्तु अब यह काग़ज़ उस योग्य होता है कि बिना किसी पेटी के सहारे अकेले ही आगे बढ़ सके। आगे चलकर उसे लोहे के कुछ खोखले बेलनों पर से गुज़ारते हैं। इन खोखले बेलनों में भाप भरी रहती है, जिसकी गर्मी से काग़ज़ के अन्दर का पानी सूख जाता है। सुखानेवाले इन खोखले बेलनों की संख्या किसी-किसी मशीन में ६० तक पहुँच जाती है। इन बेलनों पर से गुज़रने के बाद भी काग़ज़ में ४ प्रतिशत नमी शेष रहती है, जो दूर नहीं की जाती, क्योंकि अभी काग़ज़ को चिकना बनाने के लिए उस पर लोहा करना आवश्यक होता है, और नम काग़ज़ पर ही ठीक से लोहा हो सकता है। इस क्रिया के लिए काग़ज़ को फिर भारी और चिकने रोलरों के बीच में से होकर गुज़रना पड़ता है। तदुपरान्त वह वृहत्काय रीलों पर लपेट लिया जाता है। जिस वक़्त मशीन चलती रहती है, प्रति मिनट लगभग १००० फ़ीट काग़ज़ रील पर अबाध रूप से लिपटता जाता है। एक रील के भर जाने पर अपने आप दूसरी रील उसका स्थान ले लेती है। इन्हीं रीलों से विशेष प्रकार की मशीनों द्वारा मनचाहे आकार के काग़ज़ काटकर रीमों में पैक कर लिये जाते हैं। रोटरी मशीनों पर छापते समय ऐसी पूरी रीलें ही लगा दी जाती हैं।



रीलों में लपेटे हुए काग़ज़ को छोटे आकार में काटने की मशीन



धरती की खोज

अज्ञात भूभागों के अन्वेषण में जीवन समर्पित करनेवाले वीरों की कहानी

जिन्होंने अपने प्राण हथेली पर रखकर मानव की क्रीड़ाभूमि का विस्तार करने के हेतु असीम संकटों का सामना किया और अपनी दीर्घकालीन यात्राओं में जो या तो सफल हुए या मर मिटे, संसार के सुदूर, अज्ञात भूभागों का अनुसंधान करनेवाले उन पराक्रमी, कर्मशील योद्धाओं की कथा इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। प्रस्तुत लेख में सामूहिक रूप से हम उन्हीं को याद करने जा रहे हैं।

अपने इतिहास के आदिकाल ही से मानव एक प्रगतिशील प्राणी के रूप में आगे बढ़ता रहा है। उसके मन में आरंभ ही से वर्त्तमान के प्रति असंतोष की एक भावना उमड़ती रही है। शुरू से ही वह अपने मन में एक अदम्य जिज्ञासा और विकास की प्रेरणा लेकर सृष्टि पर आधिपत्य जमाने के सपने देखता रहा है। हाँ, अत्यन्त आदिमावस्था में एक सीमित वातावरण में रहते समय अपने आसपास के छोटे से भूखण्ड में ही वह समस्त विश्व की सीमा का अनुमान किया करता और आहार की सुलभता के कारण कल की चिन्ता से सर्वथा मुक्त रहने के कारण तब तक उसने सुदूरव्यापी अज्ञात भूखण्डों, नदियों, पर्वतों और महासागरों की कल्पना तक नहीं की थी। किन्तु कालान्तर में जब एकान्त की अनुभूति ने उसके मन को उद्वेलित करना शुरू किया और उसे अपने चारों ओर का वातावरण अप्रिय तथा अरुचिकर प्रतीत होने लगा, साथ ही जब जीवन-निर्वाह की वह आरंभिक सुलभता भी मिटने लगी, तब विवश हो वह अपनी आदि आवास-भूमि को सदा के लिए त्यागकर परिवर्त्तन की खोज में निकल पड़ा। इस प्रकार मानवीय प्रगतिशीलता का सर्वप्रथम प्रतिनिधि और मानव-जाति की चिर-प्रवास यात्रा का सर्वप्रथम अग्रणी वह आदि मानव ही था, जिसने क्षुधा-निवृत्ति के हेतु एक मृग का शिकार करने की चेष्टा में अपनी आवास-भूमि को पीछे छोड़कर एक सर्वथा नवीन भूभाग को पहले-पहल खोजकर अपनाया होगा। पर यहीं पर उसने विराम नहीं लिया—यह क्रम शताब्दियों तक इसी प्रकार चलता रहा और एक अमिट अतृप्ति की अनुभूतियों द्वारा संकेत पाता हुआ मनुष्य निरन्तर साहस के मार्ग पर अग्रसर होता रहा। इस प्रकार उसने सभ्यताओं और संस्कृतियों को जन्म दिया, इतिहास का निर्माण किया और अंत में एक दिन ऐसा भी आया जब वह इस भूमण्डल का एकछत्र सम्राट् बन बैठा।

इस शतशतयुगव्यापी मानवीय प्रगति का इतिहास साहस, शौर्य, पराक्रम और संघर्ष की अनोखी घटनाओं का इतिवृत्त है। मानव-परिवार के उन अपराजेय, साहसी प्रतिनिधियों की वीरगाथाएँ अमर हैं, जिन्होंने सबसे पहले नए-नए भूभागों को खोज निकालने, गगनचुम्बी पर्वतों का आरोहण करने और सुविस्तृत मैदानों तथा मरुखण्डों को पैरों से नाप डालने के प्रयास में अपने प्राणों तक की आहुतियाँ चढ़ा दीं। निस्संदेह इस आरंभिक अन्वेषण-कार्य में संसार की अन्य प्राचीन जातियों के साथ-साथ भारतवर्ष की भी प्राचीन आर्य और अनार्य्य जातियों ने किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण भाग न लिया होगा। यह सच है कि उनके उस युग के अनुसंधानकार्य के सम्बन्ध में आज दिन संसार को बहुत कम बातें उपलब्ध हैं, फिर भी जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों तथा कम्बोडिया, इंडो-चीन, बर्मा और मलय आदि देशों में प्रचुरता से पाये जानेवाले भारतीयता के प्राचीन स्मारक-चिन्हों एवं उन देशों के जीवन में भारतीयता की सुस्पष्ट छाप देखते हुए सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि

किसी युग में भारतीयों ने भी दूर-दूर तक पृथ्वी पर अभियान करके अपने उपनिवेश स्थापित किए थे। सुदूर अमेरिका तक में प्राचीन "मय जाति" की सभ्यता और संस्कृति के अवशिष्ट स्मारकों में भारतीयता की कुछ झलक दिखाई देती है। तो फिर क्या ताज्जुब यदि किसी सुदूर प्राचीन युग में हमारे देश के कतिपय साहसी वीरों ने वहाँ भी जाकर अपने पैर जमाये हों! हमारे वे पुरखे कितने कर्मनिष्ठ, साहसी और वीर रहे होंगे, जिन्होंने उस प्राचीन युग में लाखों मील की यात्रा करके उत्तुंग हिमाच्छादित पर्वत-मालाओं, द्रुतगामिनी नदियों, तथा असीम सागरों को लाँघकर इस धरातल को पहले-पहल नापा होगा! निस्संदेह यह हमारा दुर्भाग्य है कि आज हमारे सामने उनके उन महान् करतबों का आधुनिक ढंग से रचा गया कोई लिखित इतिहास नहीं है और हमारे वेदों और पुराणों के उपाख्यानों में यदि तत्सम्बन्धी इतिवृत्त छिपा भी है तो कोरी दंतकथा समझकर आज के विद्वान् उसे मान नहीं देते। संभव है, आगे चलकर इन्हीं कथाओं में से उस युग का इतिहास खोज निकालकर भविष्य के विद्वान् संसार को नया प्रकाश दें!

तो फिर पूर्वीय देशों के आदि अनुसंधानों के संबंध में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में आइए, पश्चिम की ओर ही बढ़ें, जहाँ इस संबंध में काफ़ी मसाला मिलता है, साथ ही जहाँ इस क्षेत्र में पर्याप्त कार्य भी हुआ है। पश्चिम में लेबानॉन की गगनचुम्बी पर्वतमाला और सागर के तट के बीच का संकुचित भूभाग, जो फ़ीनीशिया कहलाता था, प्राचीनकाल में भूमध्यसागर की समुद्री-शक्ति का आदि केन्द्र माना जाता था। वहाँ के निवासी आड़ में पर्वतों की दीवाल होने के कारण उस पार के प्रदेशों से पूर्णतया अपरिचित रहे, अतएव आवश्यकतावश उन्होंने समुद्री मार्ग का ही आश्रय लेकर तट के किनारे-किनारे घूमना-फिरना आरम्भ किया, जिसके लिए उन्होंने देवदारु के वृक्षों को काटकर छोटी-छोटी नौकाएँ बना लीं। क्रमशः उन्होंने बड़े जल-यान भी बनाना सीख लिया, जिससे उनकी समुद्री यात्राओं का क्षेत्र विस्तृत होता गया। अब वे महासागर की सैर करते हुए साइप्रस, रोड्स, सिसिली, आदि द्वीपों तक जा पहुँचे, और आधुनिक स्पेन के समुद्री तट तक पहुँचकर, उस स्थान पर जहाँ वर्तमान केडिज़ शहर बसा हुआ है, उन्होंने एक नगर स्थापित किया। इस प्रदेश में उनको इतनी प्रचुरता से चाँदी मिली कि उन्होंने अपने जलयानों के लंगर लोहे के बजाय चाँदी के ही बनवा डाले! स्पेन से वे आधुनिक फ्रान्स और कार्नवाल के समुद्री तट तक जा पहुँचे, जहाँ उन्होंने टीन की खानें देखीं। कालान्तर में उन्होंने अपनी शक्ति बेहद बढ़ा ली और अब वे अपने उपनिवेश भी बसाने लगे। उन्होंने ही अफ़्रीका के उत्तरी तट पर कार्थेज नगर की प्रस्थापना की, जो उनके पतन के बाद भी शताब्दियों तक उन्नति करता रहा, यहाँ तक कि एक दिन उसने रोम की बढ़ती हुई शक्ति को भी चुनौती दी।

ई० पू० ४५० के लगभग इसी कार्थेज का एक साहसिक नागरिक, जिसका नाम हन्नो था, अपनी अध्यक्षता में ६० जलयानों का एक बेड़ा लेकर अफ़्रीका के पश्चिमी सागरतट का अनुसंधान करने तथा वहाँ उपनिवेश बसाने के प्रयोजन से निकल पड़ा। अनेक विपदाओं का सामना करते हुए वह सिनेगाल नदी के मुहाने तक जा पहुँचा, जहाँ उसने बड़े-बड़े दीर्घाकार हाथी तथा अन्य जंगली पशु देखे। अन्त में आधुनिक सियरा लिओन प्रदेश में उसने पदार्पण किया, जहाँ पर कुछ रोएँदार जंगली मानवसम प्राणी उसने देखे, जो वास्तव में गोरिल्ला नामक बनमानुस थे! बहुत दिनों तक लोग हन्नो की अफ़्रीका-यात्रा को कपोल-कल्पित ही समझते रहे और किसी ने भी उसका विश्वास नहीं किया, किन्तु वास्तव में हन्नो ने यह साहस का कार्य सम्पन्न किया था इसमें संदेह नहीं।

जिस समय कार्थेज के उपरोक्त साहसी नाविक अफ़्रीका के समुद्री तट का अनुसंधान कर रहे थे, उसी समय यूनान की भी शक्ति दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी। पाँचवीं शताब्दी में हमें हेरोडोटस नामक एक यूनानी लेखक की यात्राओं का परिचय मिलता है। हेरोडोटस ने मिस्र देश की यात्रा की, जहाँ उसने भाँति-भाँति की विचित्र वस्तुएँ और चमत्कार देखे। ई० पू० ४४६ के लगभग उसने नील नदी, लिबिया, सीरिया, एशिया माइनर और सिदिया प्रदेशों की भी यात्रा की, जहाँ उसे अद्भुत दृश्य तथा अनोखे वन्य-पशु दिखाई दिए। प्रत्येक देश के निवासियों से वह वहाँ के संबंध में पूछताछ करता और जो कुछ वे कहते उसे लिखता जाता था। पर उसने अपने लिखे हुए संस्मरणों में अनेक भौगोलिक त्रुटियाँ की हैं। उदाहरणार्थ डैन्यूब नदी का उद्गम-स्थान वह पिरे नीज़ पर्वतों में मानता था! उसके बाद ज़ेनोफ़न नामक एक उत्साही यूनानी युवक देशाटन करने निकला और उसने असीरिया, आर्मीनिया और एशिया माइनर के संबंध में अपने मनोरंजक भ्रमण-वृत्तान्त लिखे।

ई० पू० ३३३ में मैस्सीलिश्रा (वर्तमान मार्सेलीज़) का प्रख्यात गणितज्ञ पीथियस जल-मार्ग से बढ़ता हुआ स्पेन के समुद्री तट से आंग्ल-उपसागर तक जा पहुँचा, जहाँ से वह शेटलैण्ड के टापुओं में घूमता-फिरता हुआ और अधिक उत्तर की ओर बढ़ा, और बर्फ़ीले समुद्रों के निकट थूले नामक एक रहस्यमय भूभाग का पता उसने लगाया, जिसे उसने भूमण्डल की सुदूरतम सीमा पर स्थित अनुमान किया। सम्भवतः यह भूभाग आधुनिक आइसलैण्ड रहा होगा। वहाँ से लौटकर पीथियस टेम्स नदी के मुहाने तक आया। फिर उत्तर-सागर को पार करके वह राइन नदी के मुहाने पर पहुँचा, जहाँ से उसने हालैण्ड और उत्तरी जर्मनी के समतल मैदानों पर दृष्टि डाली। वहाँ ज्वार-भाटे की असाधारण वेगपूर्ण शक्ति देखकर वह हैरान हो गया, क्योंकि भूमध्यसागर में यह चमत्कार उसने कभी न देखा था। इसके बाद वह मैस्सीलिश्रा वापस आया,जहाँ उसने अपनी लम्बी यात्राओं और अनुसंधानों के रोमांचकारी वृत्तान्त लोगों को सुनाए। वास्तव में उसने भूगोल के विद्वानों को नए मानचित्र बनाने की पर्याप्त सामग्री प्रदान की, जिससे वे अपने क्षेत्र में आगे बढ़ सके।

चौथी शताब्दी ई० के आरंभ में कासमस नामक एक व्यापारी ने पश्चिमी भारत, अबीसीनिया, तथा पैलेस्टाइन तक धावा मारा और एकबार तो वह नील नदी के उद्गम-स्थान तक जा पहुँचा। उसने अपनी यात्राओं का विवरण एक पुस्तक में लिखा है, जिसमें पृथ्वी को चिपटी मानते हुए आकाश को उसने चार दीवालों की भाँति उसके छोरों से लगे हुए एक गुम्बज जैसा बतलाया है। उसने सूर्य को पृथ्वी से छोटा माना है और कैस्पियन समुद्र को आर्कटिक महासागर में गिरता हुआ बतलाया है।

आगामी तीन शताब्दियों तक अरब के व्यापारी भारत तथा चीन में घूमते-फिरते रहे। उनमें से सुलेमान नामक एक सौदागर भी था, जिसने सन् ८५० ई० के लगभग अनेक लम्बी-लम्बी स्थल और जल-यात्राएँ कीं। अलिफ़लैला में वर्णित "सिंदबाद जहाज़ी" की यात्राओं का नायक वही माना जाता है।

इसी युग में स्कैण्डिनेविया के समुद्री तट की छोटी-छोटी खाड़ियों में कुछ ऐसे व्यक्तियों के समुदाय रहते थे, जिन्हें योरपवाले "समुद्री डाकू" (Vikings) कहते थे। ये लोग बड़े साहसी, वीर, लड़ाके और कष्ट-सहिष्णु होते थे और उनका आतंक दूर-दूर तक छाया हुआ था। उन लम्बी दाढ़ियोंवाले जल-दस्युओं ने ऐसे जहाज़ बनाए थे, जो पानी की सतह से काफ़ी ऊँचे रहते थे। ये जहाज़ ७५ फ़ीट लम्बे बनते थे और उनमें १२५ व्यक्तियों के लिए स्थान रहता था। इन्हें ये लोग मोटे-मोटे मज़बूत डाँड़ों से खेते थे। उन्हीं जहाज़ों में बैठकर ये समुद्री डाकू पहले पश्चिम की ओर चले और तब सुदूरवर्त्ती आइसलैंड तक जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपना एक छोटा-सा उपनिवेश बसा लिया। आइसलैण्ड के प्रवासी जलदस्युओं में से एक, जो "लाल एरिक" (Eric the Red) के नाम से विख्यात हुआ, धुर-पश्चिम की ओर चल पड़ा और अनेक संकटों का सामना करने के बाद अन्त में उसने एक अद्भुत अज्ञात भूभाग का पता लगाया, जिसका नाम उसने ग्रीनलैंड या "हरा-भरा देश" रखा। यह नामकरण उसने इस आशा से किया कि अन्य प्रवासियों के मन में भी वहाँ जा बसने का आकर्षण उत्पन्न हो। परिणामतः वह द्वीप भी शीघ्र ही आबाद हो गया।

जब एरिक बूढ़ा हो चला था, तब उसे कुछ नाविकों ने दक्षिण-पश्चिम दिशा में एक विचित्र देश के अस्तित्व का समाचार दिया। एरिक का नवयुवक पुत्र लीफ़ भी अनुसंधान के कार्य्यों और यात्राओं में दिलचस्पी लेता था। उसने यह समाचार पाकर कमर कसी और उस अज्ञात भूमि का अनुसंधान करने के लिए ६६५ ई०में अपने ३० साथियों सहित उसने ग्रीनलैंड से दक्षिण-पश्चिम दिशा में प्रस्थान किया। सागर की उत्तुंग हाहाकारमयी लहरों से लड़ते-भिड़ते और बर्फ़ीली चट्टानों से बचते-बचाते, उसका जलयान अन्त में एक लम्बी यात्रा के पश्चात् ऐसी जगह जा पहुँचा, जहाँ से कुछ दूर पर भूमितट दिखलाई देता था। उसी के किनारे-किनारे चलकर अंत में ये लोग एक नदी में जा पहुँचे। वहाँ लीफ़ और उसके साथी लंगर डालकर किनारे की भूमि पर उतर पड़े। यह नई भूमि अनुमानतः उस भूखण्ड के किनारे थी, जिसे हम आजदिन अमेरिका के नवीन इंगलैंड (New England) प्रदेश के नाम से जानते हैं। इन अनुसंधानकारियों ने नदीतट की झाड़ियों पर फैली हुई अंगूर की बेशुमार बेलें देखीं। उन्हें ज्ञात था कि अंगूरों से मदिरा बनती है, जो बड़ी सुस्वादु होती है, अतएव उनके हर्ष की सीमा न रही और उन्होंने उस भूभाग का नाम ही "वाइनलैंड" या 'अंगूरों का देश' रख दिया। इन नाविक लोगों ने वहाँ अपने झोपड़े बनाए और वहाँ से भीतरी प्रदेश के अनुसंधान की उन्होंने कई बार चेष्टा की। किन्तु इतने में ही ग्रीष्म-ऋतु का आगमन हुआ और वे अपने देश को वापस चल

पड़े। बाद में अन्य लोगों ने भी आइसलैंड से कई बार "वाइनलैंड" आकर उसे उपनिवेश बनाने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें सफलता न मिली। इस प्रकार आगे चलकर 'अमेरिका' कहलानेवाली वह भूमि आगामी पाँच सौ वर्षों तक वैसी ही अज्ञात पड़ी रही। स्वदेश लौटने पर इस कार्य के उपलक्ष्य में लीफ़ को "सौभाग्यशाली लीफ़" का नाम पाने का गौरव मिला।

जिन दिनों स्कैण्डिनेविया के उपर्युक्त जलदस्युओं का वह समुदाय इस प्रकार अमेरिका के उत्तर-पूर्वी कोने के अनुसन्धान में संलग्न था, उसी समय उनके अन्य कुछ समुदाय, जो योरप में बस चुके थे, नई-नई भूमि खोजने और विजय-यात्रा करने में लगे हुए थे। इनमें से कुछ ने बाल्टिक समुद्र के तटों पर विचरण करते हुए लॉपलैंड से होकर रूस के भीतरी भागों तक धावे मारे। कुछ लूटमार और अनुसंधान के कार्य्यों से थककर उत्तर-पूर्वीय इंग्लैंड, आयर्लैंड तथा फ़्रांस में जा बसे और उन भू-भागों पर उन्होंने अपना सिक्का जमा लिया। उनकी दस्युवृत्ति जाती रही और कालान्तर में उनमें सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ। फिर भी वे बड़े पराक्रमी, भीमकर्मा और दुःसाहसी बने रहे। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में उनके वंशजों ने सिसिली द्वीप तथा दक्षिणी इटली का कुछ भाग जीतकर एक नवीन साम्राज्य की स्थापना की, और सन् १०६६ में उन्होंने इंगलैंड जीत लिया। अटलांटिक महासागर से मध्य योरप तक और हिमाच्छादित उत्तरी सागर से भूमध्य सागर तक इन नार्स लोगों के जत्थे अनवरत धावे मारते रहे और एक दिन ऐसा आया जब तत्कालीन योरप के प्रत्येक कोने में उनके पैर जम गए।

आदि-युग से ही "कैथे" का नाम सुनते ही लोगों की आंखों के सम्मुख सुदूर पूर्व में स्थित एक ऐसे सुन्दर भूभाग का आकर्षक दृश्य खिंच जाता था, जहाँ सोना-चाँदी, मणि-माणिक्य, मसाले और चन्दन की प्रचुरता थी—जहाँ के निवासी बहुमूल्य रेशमी वस्त्र धारण करते, ज़री की पोशाकें पहनते, कोमल मख़मली गद्दों पर बैठते और षट्-रसयुक्त सुस्वादु व्यंजनों का आस्वादन किया करते थे। योरप के सौदागर इन कथाओं को सुनकर उस सुदूर देश में जाने और व्यापार करने का लोभ संवरण न कर सके और उन्होंने ऊँटों के क़ाफ़िले लेकर एशिया महाद्वीप की यात्रायें करना शुरू किया। उन दिनों सुदूर पूर्व का अधिकांश भाग तातारियों की दुर्जय शक्ति के अधीन था और उनके साम्राज्य की सीमा बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। वे केवल अपने 'ख़ान' की सत्ता स्वीकार करते थे, जो पेकिंग नगर में रहता था।

सन् १२७१ ई० में निकोलो और माफ़िओ पोलो नामक दो भाई, जो इटैलियन सौदागर थे, अपने साथ बहुत-से जवाहरात लेकर तातारियों के 'ख़ान' के दरबार में पहुँचने के प्रयोजन से अपने नगर वेनिस से चीन के लिए रवाना हुए। उनके साथ निकोलो का पुत्र मार्को पोलो भी था। पहले ये लोग बग़दाद पहुँचे। फिर ईरान होते हुए पामीर के पठारों को उन्होंने पार किया। आगे बढ़ने पर गोबी की सुविस्तृत मरुभूमि की यात्रा में उन्हें असहनीय कष्टों का सामना करना पड़ा, किन्तु वे धीरता से बढ़ते चले गए और सन् १२७५ की ग्रीष्म ऋतु में उन्होंने चीन की भूमि पर पदार्पण किया। उस समय वहाँ सुप्रसिद्ध कुबलाई ख़ाँ का राज्य था। उसने उनका यथोचित सम्मान किया। ये विदेशी सौदागर उसके यहाँ धातु के सिक्कों के बजाय काग़ज़ के नोटों का प्रचलन देखकर आश्चर्यचकित रह गए, क्योंकि उनके लिए वह एक सर्वथा नई बात थी। योरप के देशों में उस समय तक नोटों का प्रचार नहीं हुआ था। कुबलाई ख़ाँ मार्को पोलो के व्यक्तित्व से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने उसे अपने दरबार में एक सम्मानित पद देकर रख लिया। पूरे सत्रह वर्षों तक मार्को पोलो कुबलाई ख़ाँ की सेवा में रहा और इस बीच उसने तिब्बत, उत्तरी बर्मा, मंगोलिया और भारत आदि कई देशों में ख़ूब भ्रमण किया।

सन् १२९५ ई० में जब मार्को पोलो अपने पिता और चाचा के साथ वापस वेनिस लौटा तो उनके मित्र और सगे-सम्बन्धी उन्हें पहचान भी न पाए। युवक मार्को उस समय अधेड़ अवस्था का व्यक्ति हो चुका था। यात्रा के चिन्हों से अलंकृत धूलिधूसरित उनकी फटी-पुरानी तातारी पोशाकें देखकर घरवालों ने भी उन्हें न पहचानकर द्वार बन्द कर लिया। बड़ी कठिनाई से अपना परिचय देकर वे घर के भीतर गए। उसी रात को एक विराट् भोज के अवसर पर इष्ट-मित्रों के सामने उन्होंने अपनी यात्रा की वे पोशाकें मँगवाकर फाड़ डालीं। पर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन पोशाकों में से चमकीले लाल, हीरे, पन्ने, ज़मुर्रद और पुखराज आदि मणियों और रत्नों के ढेर के ढेर निकल पड़े! फिर क्या था, पोलो-परिवार का सम्मान बेहद बढ़ गया और लोग उनकी प्रशंसा के गीत गाने लगे। थोड़े ही दिनों बाद वेनिस और जिनोआ में युद्ध छिड़ गया, जिसमें जिनोआ-

वाले मार्को पोलो को क़ैद कर ले गए। वहीं कारागार में उसने अपने एक साथी क़ैदी को अपनी यात्राओं के संस्मरण लिखवाए, जिनमें विशेषतया पूर्व के साम्राज्यों के अतुल वैभव का उल्लेख था। संसार के यात्रा-सम्बन्धी ग्रन्थों में मार्को पोलो की यात्रा के ये संस्मरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गिने जाते हैं, क्योंकि उन्हीं के पढ़ने से योरप के लोगों की आँखें खुलीं और भूगोल-शास्त्र की ओर उनकी रुचि बढ़ी। कोलम्बस भी उन्हीं संस्मरणों से प्रभावित होकर यात्रा करने निकला था और अंत में अमेरिका के अनुसंधान करने का श्रेय उसने प्राप्त किया था।

इसके उपरान्त योरप के अनेकों मिशनरी और धार्मिक यात्री पूर्वीय देशों का भ्रमण करने निकले। किसी-किसी ने अपनी यात्रा के स्मारक-स्वरूप उन देशों के अनेक स्थानों में गिर्जे और उपासना-गृह भी बनवा डाले। किसी ने विचित्र बातों से भरी हुई झूठसच या अतिशयोक्तिपूर्ण पुस्तकें भी लिखीं और किसी ने भूमण्डल के अज्ञात भागों के काल्पनिक मानचित्र ही बनाकर महत्त्व पाने की चेष्टा की।

१३२४ ई० में इब्नबतूता नामक एक अरब विद्वान् ने उत्तरी अफ्रीका में अपने मातृप्रदेश से मक्का की तीर्थयात्रा की। तदनंतर जलमार्ग द्वारा लालसागर पारकर वह अदन पहुँचा, जहाँ से उसने अरब और ईरान का भ्रमण किया। वहाँसे हिन्दूकुशपर्वत की उपत्यकाओं में होकर सिन्धुनदी के रास्ते से वह दिल्ली तक पहुँचा। तत्कालीन भारत-सम्राट् ने उसका उचित सम्मान किया और उसे अपना राजदूत बनाकर चीन भेजा। चीन में उसने "शुतुर्मुर्ग के आकार के मुर्ग़" देखे और चीनियों की चित्रकला से वह बड़ा प्रभावित हुआ। उसने चीन को "संसार का सबसे मनोहर देश' पाया। तीस वर्षों के लम्बे प्रवास के बाद वह वापस टैन्जियर आया, जहाँ का कि वह निवासी था। उसने अपनी यात्राओं का सुविस्तृत वर्णन एक पुस्तक के रूप में लिखा है, जिसका संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

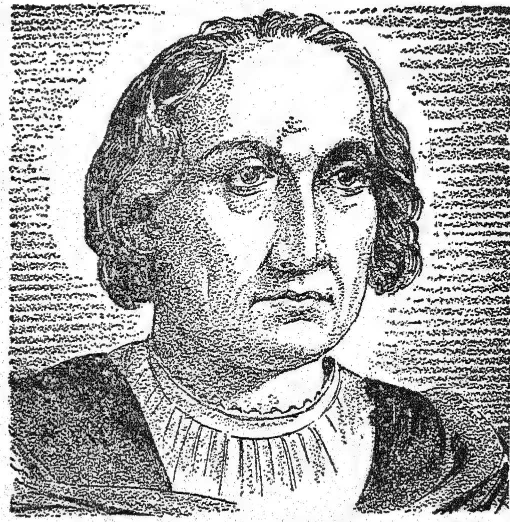
सन् १४२० ई० में जोआँओ गोनकॉव्ज़ ज़ार्को तथा ट्रिस्टॉको वॉज़ नामक दो व्यक्तियों द्वारा लिस्बन से ५३५ मील दूर मडीरा द्वीप का पता लगने पर पोर्चुगीज़ों के जलयान प्रायः दक्षिण-पश्चिम की यात्राएँ करने लगे। पोर्चुगाल का राजा हेनरी अपने समय के उन इने-गिने मनुष्यों में से था, जिनकी यह धारणा थी कि यदि कोई अफ्रीका के समुद्री तट के किनारे-किनारे धुर दक्षिण की ओर यात्रा करे तो उसे एक अन्तरीप मिलेगा, जिसकी परिक्रमा करके सीधे हिन्दुस्तान पहुँचा जा सकता है। हेनरी ने प्रतिवर्ष अनेक जलयान भेजे, जो क्रमशः अफ्रीका के किनारे-किनारे आगे बढ़ते चले गए। उनके द्वारा पुर्चगीज़ नाविक २००० मील तक पहुँचे और अपनी गति के स्मारक-स्वरूप उन्होंने जगह-जगह मीलवाले पत्थर लगा दिए। किन्तु अफ्रीका की भूमि के छोर का फिर भी अंत नहीं आ रहा था। पूर्व के इन रहस्यमय देशों की जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों को हथेली पर जान रखकर यात्रा करनी पड़ती थी। उन दिनों प्रचलित जल-मार्गों से यात्रा करने में जल-दस्युओं का बड़ा भय रहता था और स्थल-मार्ग से जाने में भी लुटेरों का डर तथा ऊँचे पर्वतों के आरोहण, एवं मरुभूमि के रेतीले मैदान तथा सघन बनों के भीतर हिंस्र पशुओं का आतंक आदि बाधाएँ थीं, जिनसे लोग बेहद घबड़ाते थे। फिर भी सभी के मन में लगी हुई थी कि पूर्वीय देशों से व्यापार करने का एक नया जल-मार्ग खोज निकाला जाय, जिससे वहाँ की यात्रा सुगम तथा सुरक्षित हो सके।

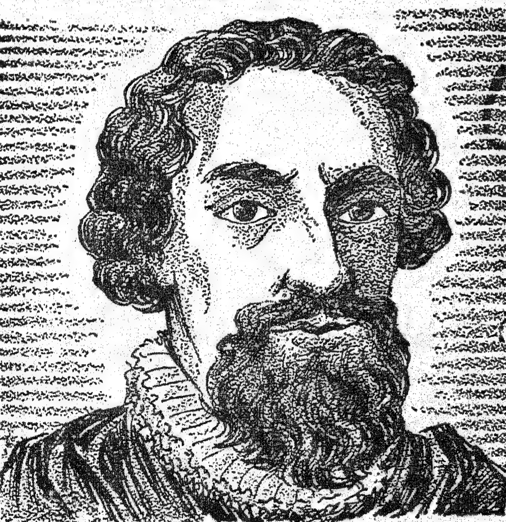
अन्त में सन् १४८६ ई० के अगस्त मास में बार्थोलोम्यू डिऑज़ नामक एक युवक नाविक ने पूरी तैयारी के साथ इस नवीन मार्ग की खोज करने के निश्चय से प्रस्थान किया। वह नीग्रो अन्तरीप से आगे बढ़कर समुद्री तट के दक्षिण-पूर्व की ओर घूमते हुए आगे बढ़ा और अचानक तेज़ आँधी में पड़कर उसके जहाज़ दक्षिण दिशा में भटक गए, जहाँ पूरे १३ दिनों तक भूमि का दर्शन दुर्लभ रहा। दिन-रात वह और उसके साथी अज्ञात समुद्रों में भटकते रहे। अन्त में आँधी का वेग कम हुआ और प्रबल शीत का आतंक छा गया। डिऑज़ ने, यह समझकर कि वह अफ्रीका के दक्षिण में आ गया था, बहुत दूर तक पूर्व की यात्रा की और उसके बाद वह उत्तर दिशा में मुड़ा। अन्त में उसे अपने जलयान के बाईं ओर भूमि के दर्शन हुए। अब इस बात में किंचित सन्देह नहीं रहा है कि उसने अनजान में ही, बिना देखे-भाले, आशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) की वास्तविक परिक्रमा कर डाली थी। उसके नाविकों ने आगे जाने से जब इन्कार किया तो अनिच्छा से डिऑज़ वापस लौटने को बाध्य हुआ। लौटते समय वह उसी ऊँचे अन्तरीप के पास से गुज़रा, जिसे आँधी और तूफ़ान के कारण आते समय वह न देख सका था। उसने उसका नाम "तूफ़ानी अन्तरीप" रख दिया। किन्तु बेचारे डिऑज़ का भाग्य उसके प्रतिकूल था। स्वदेश लौटने पर जब दूसरी बार पोर्चुगीज़ लोगों ने वैसी ही

लम्बी यात्रा का प्रयास किया तो राजाज्ञा से डिऑज़ को वास्को-डा-गामा नामक एक नाविक के नेतृत्व में जाना पड़ा। इस प्रकार उसके प्रयत्न का सारा श्रेय वास्को-डा-गामा ने हड़प कर लिया, क्योंकि वही आशा अन्तरीप का अनुसंधान करनेवाला प्रसिद्ध हुआ। सन् १५०० में वास्को-डा-गामा ने उस स्मरणीय यात्रा से डिऑज़ को विमुख करके स्वदेश लौटा दिया और रास्ते में ही डिऑज़ का जलयान तूफ़ान में पड़कर डूब गया। इस प्रकार इस अनुपम साहसी नाविक ने दुर्भाग्यवश न तो अपने कार्य में यश ही पाया और न वह जीवित ही रह सका। उसकी कमाई हुई कीर्त्ति का फल दूसरों को ही मिलना बदा था!

डिऑज़ के यश का अपहरण करनेवाला वास्को-डा-गामा, एक युवक नाविक था। उसने सन् १४९७ के जुलाई मास में पोर्चुगाल से एक लंबी समुद्री यात्रा के लिए प्रस्थान किया। तत्कालीन पोर्चुगीज सम्राट् ने उसे इस कार्य्य के लिए उत्साहित करते हुए एक जहाज़ी बेड़ा उसके साथ कर दिया था। अफ्रीका के सुप्रसिद्ध वर्डे अन्तरीप के आगे निकलने पर उसका बेड़ा दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर चल पड़ा और दक्षिणी अटलांटिक महासागर के किसी अज्ञात भाग में जाकर अटक गया। वास्को-डा-गामा को उस समय इस बात का अनुमान भी न हो सका था कि वहाँ से अज्ञात दक्षिणी अमेरिका की भूमि केवल ६०० मील ही दूर रह गई थी! वह लगभग ४५०० मील की यात्रा कर चुका और ९६ दिन बीत गए थे फिर भी भूमि के दर्शन न हुए। सौभाग्यवश उसको अफ्रीका के दक्षिण-पश्चिमी तट पर एक चौड़ी खाड़ी दिखाई दी, जिसका नाम उसने सेंट हेलेना (St. Helena) रख दिया। यह यात्रा विशेष महत्व की थी, क्योंकि कोलम्बस तो केवल २६०० मील की मंज़िल तक ही भूमि न देख पाया था, पर वास्को-डा-गामा ने उससे भी बाज़ी मार ली। समुद्री तूफ़ानों, आँधियों और यात्रा के दुःसह कष्टों से न घबड़ाता हुआ यह साहसी नाविक मल्लाहों के मना करने पर भी आगे बढ़ता गया और उसने शपथपूर्वक यह संकल्प किया कि भारत की भूमि पर पैर रखे बिना अब वह वापस न लौटेगा। क्रिसमस के दिन उसका जहाज़ी बेड़ा आशा अन्तरीप के पास से गुज़रा और उसने अफ्रीका के पूर्वी तट का भ्रमण किया। वह पुनः चल पड़ा और भटकता हुआ हिन्द महासागर में जा पहुँचा, जहाँ उसे एक नया नाविक मिला, जो अरब का था। उस नाविक ने मार्गप्रदर्शक का कार्य्य किया और इस प्रकार अपने देश से निकलने के ११ महीने बाद वास्को-डा-गामा ने भारतवर्ष के तट पर कालीकट के बन्दरगाह में लंगर डाला। कालीकट के हिन्दू राजा ज़ामोरिन ने उसकी अच्छी आवभगत की। तब तक वास्को-डा-गामा के भाई की मृत्यु हो चुकी थी, तथा उसके साथ के १६० जहाज़ियों में से १०५ व्यक्ति यात्रा के कष्टों से आक्रान्त होकर यमलोक पहुँच चुके थे। लाचार होकर वह वापस अपने देश लौट आया, मगर उसे इस बात का संतोष था कि उसने भारतवर्ष जाने का एक नया जल-मार्ग खोज निकाला था, जिसकी चेष्टा में लोग वर्षों से लगे हुए थे।

इसके उपरान्त पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में स्पेन के एक छोटे से बंदरगाह से छूटनेवाले 'सान्ता मेरिया', 'पिन्ता' और 'नाइना' नामक तीन छोटे-छोटे जलयानों की वह इतिहास-प्रसिद्ध महान् यात्रा संपन्न हुई, जिसने पहले पहल योरपवालों के लिए अटलांटिक महासागर के उस पार की 'नई दुनिया' का द्वार खोल दिया! इस महत्त्वपूर्ण अभियान का नेता था अमर अन्वेषक क्रिस्टाफ़र कोलंबस, जिसके संबंध में 'विश्व-भारती' के अंक ४ (पृष्ठ ५११–५१६) में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। यद्यपि कोलंबस से पहले ही उन प्राचीन नार्स नाविकों ने जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अमेरिका महाद्वीपों की भूमि पर पैर रखने में सफलता पाई थी तथापि उनकी खोज का श्रेय पाँच सौ वर्ष बाद कोलम्बस ही को मिला। कोलम्बस की यात्राएँ समाप्त होने के चार वर्ष बाद जान कैबट नामक वेनिस-निवासी, जो इंगलैंड के राजा हेनरी सप्तम की जल-सेना में कप्तान के पद पर नियुक्त हो गया था, अपने पुत्र सेबैस्टियन और अन्य १६ मल्लाहों के साथ मैथ्यू नामक छोटे से जहाज़ पर सवार होकर ब्रिस्टल के बन्दरगाह से रवाना हुआ। वह पश्चिम दिशा में तीन महीने तक संकटपूर्ण जल-यात्रा के पश्चात लैब्रेडोर की ऊसर भूमि पर जा पहुँचा। कैबट ने उस भूभाग को चीन समझा, जहाँ जाने की इच्छा से वह यात्रा कर रहा था। किन्तु वहाँ वैभवशाली बड़े-बड़े नगर न देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। समुद्रतट पर वापस आकर वह और आगे रवाना हुआ और १००० मील तक किनारे-किनारे चलता हुआ लगातार भटकता रहा। ६ अगस्त को उसके जहाज़ ने लौटकर ब्रिस्टल के बन्दरगाह पर लंगर डाला। पुनः आगामी मई महीने में चार नए जहाज़ देकर राजा ने उसे दुबारा यात्रा करने की आज्ञा दी। इस बार कैबट अपने पुत्र के साथ दक्षिण दिशा में बढ़कर उत्तरी अमेरिका के

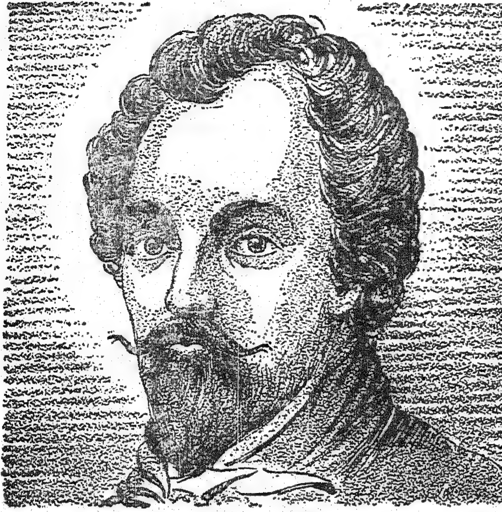



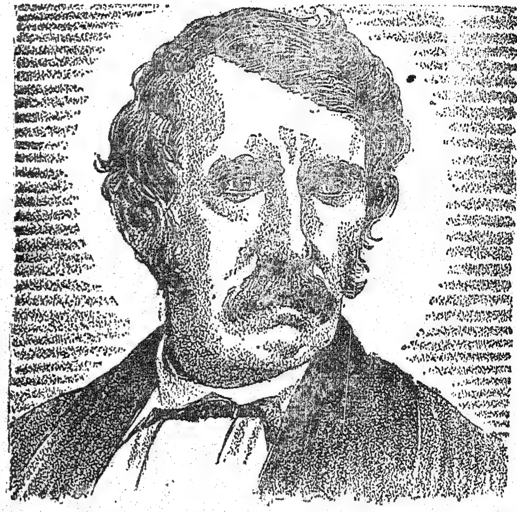



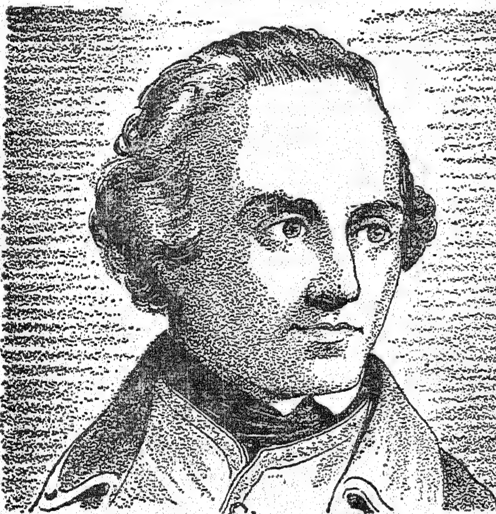

कुछ प्रसिद्ध अन्वेषक—(१)

(बाईं ओर—ऊपर से नीचे को) १. लीफ़ एरिक्सन; २. मार्को पोलो; ३. बार्थोलोम्यू डिऑज़।

(दाहिनी ओर—ऊपर से नीचे को) १. क्रिस्टाफ़र कोलंबस; २. वास्को-डा-गामा; ३. मैगेलन।













कुछ प्रसिद्ध अन्वेषक—(२)
(बाईं ओर—ऊपर से नीचे को) १. सर फ्रांसिस ड्रेक; २. जेम्स कुक; ३. वॉन हम्बोल्ट।
(दाहिनी ओर—ऊपर से नीचे को) १. डेविड लिविंगस्टोन; २. फ्रिट्ज़ोफ़ नान्सेन; ३. स्वेन हेडिन।

किनारे-किनारे चेज़ापीक की खाड़ी तक जा पहुँचा। किन्तु फिर भी उसे वहाँ पर सोना, मणि-माणिक्य, रेशम और हाथीदाँत न पाकर बड़ी निराशा हुई। एक अरसे के बाद, उन चारों जहाज़ों में से केवल सेबैस्टियन का जहाज़ सहीसलामत इंग्लैंड वापस पहुँचा और अन्य सभी जहाज़ अपने यात्रियों-सहित रास्ते में ही डूब गए या चट्टानों से टकराकर नष्ट हो गए। इसके बाद फिर किसी ने जान कैबट का पता न पाया। इंगलैंडवालों को विश्वास हो गया कि वह नई भूमि चीन का भूभाग न थी और आगामी सौ वर्षों तक उसके अनुसंधान में किसी ने भी दिलचस्पी न ली। बाद में कैबट की यात्राओं के आधार पर ही इंगलैंड उत्तरी अमेरिका पर अपने अधिकार का दावा कर सका।

कुछ वर्षों के उपरान्त पाश्चात्य देशों के निवासियों ने पान्से-डे-लिओन नामक एक स्पेनिश सैनिक की आश्चर्यजनक कहानी सुनी। डे-लिओन सुप्रसिद्ध यात्री कोलम्बस के साथ दूसरी यात्रा में जा चुका था और वेस्ट इंडीज़ के टापुओं में बस गया था। सन् १५११ ई० में उसे पोर्टोरीको का गवर्नर होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह वृद्ध हो चला था और उसके शरीर के घाव पुराने हो जाने पर भी उसे पीड़ा देते थे। उसे उन टापुओं के आदिम निवासियों से यह पता चला कि पास ही किसी द्वीप में एक अद्भुत झरना है, जिसका पानी पीने से मनुष्य की युवावस्था और शारीरिक शक्ति लौट आती है। वह ज़माना ऐसा था कि लोग कही-सुनी बातों पर तुरन्त विश्वास कर लेते थे और सदैव आश्चर्यों की खोज में लगे रहते थे। अतएव डे-लिओन ने स्पेन-नरेश से इस झरने का अनुसंधान करने और उस अज्ञात द्वीप में उपनिवेश बसाने की आज्ञा प्राप्त कर ली, और तीन छोटे-छोटे जहाज़ तथा थोड़े से मल्लाह लेकर वह बहामा-द्वीप-समूह के किनारे-किनारे यात्रा करता हुआ सन् १५१३ में, ईस्टर रविवार के दिन, एक विचित्र भूमि पर जा पहुँचा, जहाँ फूलों और फ़र्न की जाति के पौधों की अधिकता थी। डे-लिओन ने इस भूभाग का नाम फ़्लोरिडा रखा, जो ईस्टर रविवार का स्पेनिश नाम है। उसने बड़ी सावधानी से उस प्रसिद्ध झरने की खोज शुरू की और रास्ते के प्रत्येक प्रपात का जल वह पीता गया। फिर भी जिस चमत्कार की उसे आशा थी वह न दिखाई दिया। उसकी दाढ़ी वैसी ही भूरी बनी रही और झुर्रियों की गहराई में भी कोई अन्तर न आया। उसके अकड़े हुए बदन के जोड़ों में भी वैसा ही दर्द रहा जैसा कि पहले था! उसकी निराशा का कोई ठिकाना न रहा, जब उस भूभाग के आदिम निवासी भी उसके शत्रु बन गए। अन्त में उसने पोर्टोरीको वापस लौटने की ठानी। कुछ वर्षों के उपरान्त फ़्लोरिडा में उपनिवेश बसाने के इरादे से डे-लिओन फिर वहाँ वापस लौटा, पर वहाँ के आदिम निवासियों के एक तीर का निशाना बनकर वह निराश वृद्ध सैनिक मृत्यु के मुख में चला गया। इस प्रकार युवावस्था प्राप्त करने की चेष्टा में उसे मृत्यु मिली!

ऐसा ही एक दुःसाहसी किन्तु चतुर नाविक पोर्चुगाल-निवासी फ़र्डिनैंड मैगेलन हुआ है, जो जलमार्ग से भूप्रदक्षिणा करने के हेतु स्पेन के राजा की आज्ञा से रवाना हुआ था, परन्तु यात्रा-काल में ही उसकी मृत्यु हो गई थी। सन् १५१९ ई० के सितम्बर मास में, पाँच पुराने जहाज़ और २६५ मल्लाहों को साथ लेकर मैगेलन ने पूर्व के बजाय पश्चिमी मार्ग से भारत पहुँचने का निश्चय किया। सबसे आगे वाले जहाज़ के पिछले छोर पर, जिस पर वह स्वयं बैठा था, उसने लकड़ी की एक जलती हुई मशाल बँधवा दी थी, जिसमें साथ के अन्य जहाज़ उसका अनुसरण करते हुए अँधेरे में भी उसके पीछे-पीछे चलते रहें और भटक न जाएँ। नवम्बर में वह ब्रेज़िल के तट पर पहुँचा और दक्षिण दिशा में अनुसंधान करता हुआ, क्रिसमस के समय तक आते-आते, उसने सेंट जुलियन के बन्दरगाह में लंगर डाला। उसी स्थान पर उसने शीतकाल बिताने का निश्चय किया। वहीं पेटागोनिया के तट पर उसने अपने जहाज़ी बेड़े के तीन कप्तानों के विद्रोह का दमन किया, किन्तु डमरूमध्य में प्रवेश करते समय उसका एक जहाज़ साथ छोड़कर भाग गया और स्पेन चला गया। ३८ दिनों तक उस नए डमरूमध्य में से होकर ३६० मील का चक्कर उसने लगाया और तब अनेक समुद्री कठिनाइयों का सामना करने के बाद वह प्रशान्त महासागर में जा पहुँचा, जिसको उसने "पैसिफ़िक" के नाम से सम्बोधित किया। फिर उत्तर-पश्चिम दिशा में मुड़कर ९८ दिनों तक वह अज्ञात समुद्रों में भटकता रहा। उसके मल्लाह बीमार पड़ गए और भूख मिटाने के साधनों का अभाव होने के कारण उनमें असन्तोष फैल गया। उन लोगों ने जहाज़ों में रहनेवाले चूहों तक को ढूँढ़-ढूँढ़कर मार खाया और जहाज़ में का चमड़ा तक उन्होंने चबा डाला। यही नहीं, लकड़ी के बुरादे तक को उदरस्थ करके उन्होंने अपनी क्षुधा-निवारण की। अंत में भूख से पीड़ित और यात्रा के कष्टों से थके हुए वे मल्लाह लैंड्रोनेज़ की भूमि पर जा उतरे, जहाँ के आदिम निवासियों से उन्हें फल और

तरकारियाँ प्रचुर परिमाण में प्राप्त हुईं। दस दिन बाद उन्होंने फ़िलिपाइन द्वीपों का पता लगा कर वहाँ की भूमि पर पैर रखे। इन द्वीपों की जंगली जातियों को उनका आना अच्छा न लगा और उन्होंने तत्काल इन नवागन्तुकों पर आक्रमण कर दिया। उस लड़ाई में मैगेलन की मृत्यु हो गई और उसका केवल एक जहाज़, जो बचा था, डेल-कैनों की अध्यक्षता में आशा अन्तरीप का चक्कर लगाता हुआ १५२२ ई० में स्पेन वापस लौटा। उसके आगमन के बाद ही सर्वप्रथम यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वी गोल है। मैगेलन के बलिदान को स्पेनवासी कभी न भूल सके और आज भी उसका नाम वे सम्मान से लिया करते हैं।

मैगेलन के असाधारण साहसिक कार्य्यों की समानता करनेवाला केवल एक व्यक्ति ही और हुआ, जिसका नाम अल्वर-न्यूनेज़-कैबेज़ा-डे-वाका था। इस अनोखे अनुसंधानकारी का जहाज़ सन् १५२७ ई० में आधुनिक गेलवेस्टन के निकट गल्फ़कोस्ट की रेतीली भूमि से टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो गया। भूखा-प्यासा, रोगाक्रान्त, तथा नवम्बर के शीत से ठिठुरता हुआ डे-वाका अपने साथियों सहित, जिनके पहनने के वस्त्र भी नष्ट हो चुके थे, स्थानीय निवासियों के यहाँ जाकर शरणागत हुआ। उसके साथियों में से अधिकांश प्रबल शीत, भूख और बीमारी के कारण असमय ही चल बसे, और शेष लोगों ने नर-मांस खाकर अपनी प्राण-रक्षा की। जाड़ा समाप्त होने तक कुल ८० व्यक्तियों में से केवल १५ ही बचे और उनकी भी बड़ी दयनीय दशा थी—तन पर वस्त्र नहीं, आहार की सुविधा नहीं, और पास में कोई सामग्री नहीं। जिन लोगों के वे अतिथि थे, उनमें भी अचानक बीमारी का प्रकोप हुआ, जिससे आधे से भी अधिक व्यक्ति मर गए। लाचार होकर उन्होंने अपने विदेशी अतिथियों से सहायता माँगी। डे-वाका चिकित्सा-शास्त्र का थोड़ा बहुत अध्ययन कर चुका था। उसने उनका अत्यन्त तत्परता से इलाज किया और रोगमुक्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना भी की। फलतः वे लोग चंगे होने लगे और डे-वाका को उन्होंने चिकित्सा-विशेषज्ञ समझकर बड़ा सम्मान दिया। डे-वाका को एक दास की भाँति स्थानीय निवासियों में रहते-रहते ६ वर्ष के लगभग समय व्यतीत हो गया। उसे पानी के नीचे उगनेवाली जड़ें (जो खाई जा सकती थीं) खोदने और निकालने का काम सौंपा गया था। इस काम को करते-करते उसके हाथों की उँगलियाँ बुरी तरह से सूज गई थीं और उनसे बराबर ख़ून निकलता रहता था। एक दिन अवसर पाकर वह भाग निकला और पैदल ही मेक्सिको की यात्रा करने लगा। रास्ते में उसे अपने साथ के तीन और व्यक्ति मिले, जो दो वर्ष पहले उससे छूटकर भटक गए थे। ये चारों व्यक्ति जंगली और आदिम जातियों की बस्तियों से होते हुए चल पड़े और डे-वाका की चिकित्सा-विशेषज्ञ की उपाधि ने प्रत्येक अवसर पर उनके प्राण बचाए। वे भीतरी प्रदेश में बढ़ते चले गए, और ऊँचे-ऊँचे पर्वतों, सघन वनों और रेगिस्तानों को पार करके अन्त में वे स्पेन देश की एक औपनिवेशिक चौकी पर पहुँच गए। इस तरह पूरे महाद्वीप की यात्रा करने में उन्हें आठ वर्ष लगे और अपने भ्रमण-काल में वे सुदूर धुर उत्तर में एल-पासो नामक आधुनिक नगर की सीमा तक जा पहुँचे थे। डे-वाका और उसके साथियों के अतिरिक्त इतनी लम्बी पैदल यात्रा करने का साहस पहले किसी ने भी नहीं किया था।

दूसरा एक महान् अन्वेषक अलेक्ज़ेंडर वॉन-हम्बोल्ट नामक एक जर्मन वैज्ञानिक हुआ है, जिसने दक्षिणी अमेरिका में तीन वर्ष तक सफलता से अनुसंधान-कार्य्य किया, और जो १८०४ ई० में वहाँ से प्रकृति-विज्ञान सम्बन्धी पर्याप्त अध्ययन-सामग्री लेकर स्वदेश वापस आया। सन् १८२६ ई० में रूस के ज़ार निकोलस की संरक्षता में उसने उत्तरी और मध्य एशिया की यात्रा में भी बहुत कुछ अनुसंधान-कार्य्य किया। उसकी इन यात्राओं द्वारा वैज्ञानिकों को अनेक नई बातों का पता चला, जिनके विषय में वे पूर्णतया अन्धकार में भटक रहे थे।

धर्म-प्रचार की प्रेरणा से प्रवास करनेवाले कुछ ईसाई मिशनरी लोगों ने भी महत्वपूर्ण अनुसंधान-कार्य्य किया है, जिसके फलस्वरूप संसार को पृथ्वी के नए-नए भूखण्डों और उनके निवासियों के विषय में आश्चर्यजनक बातें मालूम हुई हैं। इनमें डेविड लिविंग्स्टन नामक एक स्कॉटिश मिशनरी (धर्म-प्रचारक) का नाम सबसे उल्लेखनीय है, जिसने सब से पहले मध्य अफ़्रीका के विषय में जानकारी हासिल की और उसका विवरण संसार के आगे प्रस्तुत किया। सन् १८४१ ई० में धर्म-प्रचार के कार्य्य से लिविंग्स्टन दो वर्षों तक दक्षिण अफ़्रीका के निवासियों में दौरा करता रहा। घूमते-फिरते उसने नगामी नामक झील का पता लगाया। यहीं से उसके मन में भौगोलिक अनुसंधान की इच्छा बलवती हुई, जिसमें उसने अपना शेष जीवन लगा दिया। स्वतंत्रता से कार्य्य करने के विचार से उसने अपने परिवार को इंगलैंड वापस भेज दिया। लिविंग्स्टन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण यात्रा सन् १८५२ ई० में

आरम्भ हुई और अनेक संकटों का सामना करने के बाद जब वह लड़खड़ाता हुआ लोआँडा के पश्चिमी तट पर पहुँचा तो उसका शरीर केवल अस्थि-चर्म का एक पंजर-मात्र दिखाई देता था! वापसी में, भीतरी प्रदेश से आते समय ज़म्बेसी नदी के आगे उसने विक्टोरिया के सुविस्तृत जल-प्रपातों का पता लगाया। सन् १८५६ ई० में अपनी यात्रा समाप्त कर वह इंगलैंड वापस लौटा। दो वर्ष बाद पुनः वह ज़म्बेसी नदी के ऊपरी भाग की यात्रा करने अफ्रीका पहुँच गया। उसी ने न्यासा झील को खोज निकाला और इंगलैंड से लाये हुए एक छोटे-से स्टीमर में बैठकर उसने अफ्रीका के भीतरी भूभाग में फैले हुए नदी-नालों और जल-स्रोतों का पता लगाते हुए हज़ारों मील की परिक्रमा कर डाली। दुर्भाग्यवश उसे अपनी इस यात्रा का कार्य्य लाचारी से स्थगित करना पड़ा। सन् १८६५ ई० में वह फिर अफ्रीका जा पहुँचा। यही उसकी सबसे लम्बी और अन्तिम यात्रा थी। ज़न्ज़ीबार से रवाना होकर इंगलैंड की राजकीय-भौगोलिक समिति के आदेशानुसार वह नील नदी के उद्गम-स्थान की खोज में चल पड़ा। पर तीन वर्ष तक उसका कुछ भी पता न चला। अन्त में टांगानाइका झील के पास यूजिली नामक स्थान पर उद्धार-समिति के एक यात्री स्टैनली ने सौभाग्यवश उसको जा खोजा। दोनों का वहाँ अचानक मिलन हुआ और वह भी उस अन्धकारमयी अफ्रीका की भूमि पर! इस स्मरणीय घटना की ख़बर संसार के सभी देशों में बिजली की तरह फैल गई। लिविंग्स्टन ने स्टैनली के लाख समझाने पर भी स्वदेश लौटने से इन्कार कर दिया और दृढ़ता से उसने अपना वह अनुसंधान-कार्य जारी रखा। अन्त में, ज्वर से आक्रांत होकर पहली मई, सन् १८७३ ई०, को उसकी उन्हीं जंगलों में मृत्यु हो गई।

नार्वे के प्रोफ़ेसर मोन का एक मित्र था, जिसे वे बहुत मानते थे। दोनों के मन में सहसा यह विचार उठा कि यदि वे एक ऐसा मज़बूत जहाज़ बना सकें, जो आर्कटिक के शीतकाल की हिमवर्षा का आघात सह सके तो वे सरलता से सागर के बहाव द्वारा ध्रुव के निकट पहुँच सकते हैं। अन्त में उन्होंने एक ऐसा जहाज़ बना ही लिया, जिसे फ्रॉम कहते थे और सन् १८९३ के जून मास की चौबीसवीं तारीख़ को अपने साथ पाँच बरस की यात्रा का ज़रूरी सामान लेकर मोन और उनका वह साहसी मित्र, जिसका नाम फ्रिटजोफ़ नान्सेन था, अपने जहाज़ में बैठकर नार्वे से रवाना हुए। उनका जहाज़ योरप के उत्तरी तट का अनुसरण करता हुआ सितम्बर के बाद न्यू साइबेरिया प्रदेश के उत्तर में बर्फ़ के सागर में जा पहुँचा, और वहाँ वह फँस गया। जहाज़ के चारों ओर शीघ्रता से बर्फ़ जम गई, जिसके भारी बोझ से उसके दोनों पार्श्व टूट गए। यह बड़ी कठिन परीक्षा का अवसर था। नाविकों के प्रयत्न से जहाज़ ने एक बार ज़ोर भरा और बर्फ़ से निकलकर वह जल में आ गया। पूरे नौ महीने तक वह जहाज़ निरुद्देश्य इधर-उधर भटकता रहा। तब अचानक वह किसी बहाव में पड़ गया और उत्तर दिशा की ओर जाने लगा। दूसरे वर्ष शीत ऋतु में, नान्सेन एक साथी के साथ जहाज़ को छोड़कर केवल स्लेज या बर्फ़ पर फिसलनेवाली गाड़ी द्वारा उत्तरी ध्रुव की यात्रा के विचार से निकल पड़ा। ये लोग ध्रुव-प्रदेश में काफ़ी दूर निकल गए थे, जहाँ तक उनसे पहले कोई और न पहुँच सका था, परन्तु अन्त में उन्होंने हार मानी और उन्हें लौट आना पड़ा। वे असह्य शीत और मार्ग की दुरूह आपदाओं में पड़कर मरते-मरते बचे। कई बार तो वे जीवन की आशा ही छोड़ बैठे, किन्तु अन्ततोगत्वा अगस्त मास में वे फ्रॉन्ज़ जोज़ेफ़लैंड तक पहुँच गये। जाड़े का मौसम उन्होंने वहीं काटा और मई सन् १८९६ में पुनः अपनी स्लेज-यात्रा आरम्भ कर दी। सौभाग्यवश रास्ते में जैक्सन नामक एक प्रसिद्ध अनुसंधानकर्त्ता से उनकी भेंट हो गई, जिसके साथ वे नार्वे वापस आ गए। इस बीच में उनका जहाज़ भी, जो सागर के बहाव का अनुसरण करता हुआ चला आ रहा था, नार्वे आ पहुँचा। नान्सेन ने इसी प्रकार और भी कई बार आर्कटिक प्रदेशों की यात्राएँ कीं। उसकी मृत्यु १९३० ई० में हुई।

कुछ ही वर्ष हुए अमेरिका के ऐंड्रूज़ नामक विद्वान् को यह सूझा कि मध्य एशिया के भूतत्त्व-सम्बन्धी अध्ययन के प्रयोजन से यदि व्यवस्थित यात्राएँ की जाएँ तो उनके वैज्ञानिक परिणाम बड़े महत्त्व के होंगे। आख़िरकार पचास हज़ार डालर के ख़र्चे से दस वर्ष तक अनवरत खोज करने की एक योजना बनी और यात्रा के लिए मोटरगाड़ियों तथा पेट्रोल और रसद ले जाने के लिए ऊँटों के काफ़िले की व्यवस्था की गई। इन ऊँटों के काफ़िलों को कई महीने पहले ही रवाना कर देना निश्चित हुआ, जिसमें वे मरुभूमि में कलगान नामक चीनी शहर से ६०० मील पर मोटरों से मिल सकें। इसी शहर को यात्रा की मुख्य चौकी क़रार दिया गया। मार्च १९२२ के शुरू में ऊँटों का वह काफ़िला मंगोलिया के लिए चला। मरुभूमि तक पहुँचने के लिए कुल पाँच यात्राएँ की गईं, जिनमें यह पहली

यात्रा थी। अगले वर्ष दूसरी तथा सन् १६२५ ई० में तीसरी यात्रा हुई, जिसमें बहुत-से लोगों ने जाकर बाहरी मंगोलिया प्रदेश में अनुसन्धान-कार्य किया। चौथी यात्रा सन् १६२८ में और पाँचवीं सन् १६३० में हुई—जब पूर्वी मंगोलिया का भीतरी भाग अनुसन्धान का मुख्य क्षेत्र बना। वहाँ रेत की भयंकर आँधियाँ चलतीं और बर्फ़ के तूफ़ान उठते थे। कई राजनीतिक कठिनाइयाँ भी थीं और खूँख्वार लुटेरों के आक्रमण होते थे। मोटरगाड़ियों के पहिए जब बालू में धँस जाते, तब उनको निकालना कठिन हो जाता था। यातायात की सुविधाओं को जुटाने में भी बड़ा समय लगता था। फिर भी इन यात्रियों का साहस और उत्साह लेशमात्र भी कम न होता था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अब तक मंगोलिया की भूमि अज्ञात थी, जिसके विषय में इन लोगों ने अनेक महत्वपूर्ण बातें जान लीं। कलगान से रवाना होकर चीन की बड़ी दीवाल के दक्षिण में लगभग १००० मील आगे मंगोलिया के बीच तक सूक्ष्मता से ठीक-ठीक निरीक्षण और पैमाइश का कार्य्य उन्होंने सम्पन्न किया। यह इलाक़ा संसार का सबसे अधिक मूल्यवान और सबसे प्राचीन क्षेत्र प्रमाणित हुआ, जहाँ पशुओं, वृक्षों और धातुओं के प्रस्तरीभूत अंश भूगर्भ में प्रचुरता से पाये जाते हैं। अनुसंधान में सबसे आश्चर्यजनक "डायनोसार" नामक प्राचीन भीमकाय जंतुओं के ८० अण्डे थे, जिनके विषय में लोगों की धारणा थी कि वे चट्टानों पर नौ करोड़ पचास लाख वर्षों तक नीचे दबे पड़े रहे!

जिस प्रकार मंगोलिया की उपरोक्त यात्राओं का श्रेय विशेषतया ऊपर उल्लिखित ऐन्ड्रूज़ को प्राप्त हुआ, उसी भाँति स्वीडन के सुप्रसिद्ध अनुसंधानकर्त्ता स्वेन हेडिन को भी अपनी यात्राओं द्वारा एशिया के कई अज्ञात भागों का परिचय देने का श्रेय प्राप्त है। लगभग पचास वर्षों तक उसने बराबर सुदूर प्रदेशों में भ्रमण किया है। बीस वर्ष की आयु में ही वह ईरान और मेसोपोटामिया घूम आया था। सन् १८६५ में उसने तकला-मकान नामक रेगिस्तान की सैर की, जहाँ जाने वाला वह पहला योरपीय यात्री था। तिब्बत के पठारों को लाँघकर पेकिंग पहुँचने के पूर्व उसने ख़ोतान में अपनी यात्रा-चौकी स्थापित की थी। सन् १६०१ में जब वह तिब्बत के जंगली इलाक़ों में विचरण कर रहा था, उस समय यात्रा की कठिनाइयों से पीड़ित होकर उसके क़ाफ़िले के बहुत से भारवाहक पशु और एक अनुचर कालकवलित हो गए। अन्त में उसने गोबी की मरुभूमि के कुछ भाग का निरीक्षण और पैमाइश करने में सफलता पाई। इसके पूर्व किसी अन्य विदेशी ने इस ऐतिहासिक मरुभूमि के दर्शन भी नहीं किये थे। सन् १६०६ में वह पुनः ऊँटों का बहुत बड़ा क़ाफ़िला लेकर एशिया आया और पश्चिमी तिब्बत के अज्ञात प्रदेश में अनुसंधान करते हुए उसने अनेक नई पर्वतश्रेणियों, झीलों और नदियों का पता पाया। उसने ब्रह्मपुत्र, सिन्धु और सतलज के उद्गमस्थानों को खोज निकाला। सन् १६०७ ई० में वह पुनः भारत लौटा और उसने हिमालय पर्वत को दूसरी बार पार किया। इस यात्रा में वह कई बार १७००० फ़ीट की ऊँचाई तक पहुँचा। सन् १६२७ ई० में एक बहुत बड़े यात्री-दल का अध्यक्ष बनकर वह पुनः एशिया-भ्रमण करने चला। उसके साथ तीन सौ ऊँटों और १०० आदमियों की लम्बी जमात थी। पाओटो से रवाना होकर वह उत्तर-पश्चिम दिशा गोबी की मरुभूमि की ओर चल पड़ा। महीनों तक वह अपने दल-बलसहित उस वीरान शुष्क मरुभूमि में फिरता रहा। इस यात्रा के फल-स्वरूप मंगोलिया के भीतरी प्रदेश का किनारा, जिसकी लम्बाई १००० मील थी, पहली बार नापा-जोखा गया। लोगों का अनुमान है कि यह साहसी व्यक्ति जब तक एशिया के सर्वोच्च भूभागों की अज्ञात भूमि का अनुसंधान न कर लेगा तब तक शान्ति न लेगा।

स्वेन हेडिन ही पाश्चात्य अनुसंधान-कर्त्ताओं का अन्तिम प्रतिनिधि नहीं है। अनेकों दुःसाहसी व्यक्ति आज भी कितनी ही दुस्तर यात्राओं में लगे हुए हैं। इनके अतिरिक्त उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी ध्रुव, आदि की खोज में अपना जीवन अर्पण करनेवाले वीरों का परिचय तो 'विश्व-भारती' के पिछले अंकों में आप पढ़ ही चुके हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्य देशवालों के अदम्य उत्साह और साहस ने संसार का मानचित्र ही बदल दिया है। उनमें जहाँ सर फ्रान्सिस ड्रेक जैसे छापा मारनेवाले और कुक जैसे साम्राज्य-विस्तारक रहे हैं, वहाँ कई ऐसे भी लोग हैं, जिन्होंने अपनी विद्वत्ता का क्षेत्र विस्तृत करने के हेतु भी सुदूर देशों में जाकर अनुसंधान-कार्य किया है और अपने अध्ययन का परिणाम संसार के सामने रखा है।

